रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)

वर्ष: २१ अंक: ३

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई–अगस्त–सितम्बर

* १९८३ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

सह-व्यवस्थापक

स्वामी ज्ञानातीतानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)— १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

१. सबसे बड़ी मौत ... १

२. अग्नि-मंत्र (विवेकानन्द के पत्र) ... २

३. श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग (दूसरा प्रवचन) (स्वामी भूतेशानन्द) ... ५

४. तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (११) ... १६

५. श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :— स्वामी निरंजनानन्द (स्वामी प्रभानन्द) ... २६

६. विभीषण-शरणागति (७/२) (पण्डित रामकिंकर उपाध्याय) ... ४०

७. श्रीरामकृष्ण-महिमा (२) (अक्षयकुमार सेन) ... ६६

८. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (शरद् चन्द्र पेंढारकर) ... ७८

९. लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण (श्रीमती कृष्णभाविनी देवी) ... ८५

१०. ईश्वर का प्राकट्य (गीताप्रवचन-५६) (स्वामी आत्मानन्द) ... ९९

११. श्रीरामकृष्ण की बोधकथा ... ११७

१२. रसद्दार मथुर (३) (नित्यरंजन चटर्जी) ... ११८

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रणस्थल : सरस्वती प्रेस, डीग गेट, मथुरा–२८१००१ (उ० प्र०)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २१] जुलाई-अगस्त-सितम्बर [अंक ३

* १९८३ *

सबसे बड़ी मौत

अतः प्रमादान्न परोऽस्ति मृत्यु-
विवेकिनो ब्रह्मविदः समाधौ।
समाहितः सिद्धिमुपैति सम्यक्
समाहितात्मा भव सावधानः ॥

—अतः विवेकी और ब्रह्मवेत्ता पुरुष के लिए समाधि (चित्त-स्थैर्य के अभ्यास) में प्रमाद करने से बढ़कर और कोई मृत्यु नहीं है; (चित्त-स्थैर्य को प्राप्त) समाहित पुरुष ही पूर्ण आत्म-सिद्धि प्राप्त कर सकता है; इसलिए सावधानी के साथ चित्त को समाहित (स्थिर) करो।

—विवेकचूड़ामणि, ३२९

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

स्विट्जरलैंड
८ अगस्त, १८९६

प्रिय आलासिंगा,

कई दिन पहले मैंने अपने पत्र में तुम्हें इस बात का आभास दिया था कि मैं 'ब्रह्मवादिन्' के लिए कुछ करने की स्थिति में हूँ। मैं तुम्हें एक या दो वर्षों तक १०० रुपया माहवार दूँगा—अर्थात् साल में ६० अथवा ७० पौंड—यानी जितने से सौ रुपये माहवार हो सके। तब तुम मुक्त होकर 'ब्रह्मवादिन्' का कार्य कर सकोगे तथा इसे और भी सफल बना सकोगे। श्रीयुत् मणि अय्यर और कुछ मित्र कोष इकट्ठा करने में तुम्हारी सहायता कर सकते हैं—जिससे छपाई आदि की कीमत पूरी हो जायगी। चन्दे से कितनी आमदनी होती है ? क्या इस रकम से लेखकों को पारिश्रमिक देकर उनसे अच्छी सामग्री नहीं लिखवायी जा सकती ? यह आवश्यक नहीं कि 'ब्रह्मवादिन्' में प्रकाशित होनेवाली सभी रचनाएँ सभी की समझ में आएँ—परन्तु यह जरूरी है कि देशभक्ति और सुकर्म की भावना-प्रेरणा से ही लोग इसे खरीदें। लोग से मेरा मतलब हिन्दुओं से है।

यों, बहुत सी बातें आवश्यक हैं। पहली बात है—पूरी ईमानदारी। मेरे मन में इस बात की रत्ती भर शंका नहीं कि तुम लोगों में से कोई भी इससे उदासीन रहोगे।

बल्कि, व्यावसायिक मामलों में हिन्दुओं में एक अजीब ढिलाई देखी जाती है—बेतरतीब हिसाब-किताब और बेसिलसिले का कारबार। दूसरी बात, उद्देश्य के प्रति पूर्ण निष्ठा—यह जानते हुए कि 'ब्रह्मवादिन्' की सफलता पर ही तुम्हारी मुक्ति निर्भर करती है।

इस पत्र (ब्रह्मवादिन्) को अपना इष्टदेवता बनाओ और तब देखना, सफलता किस तरह आती है। मैंने अभेदानन्द को भारत से बुला भेजा है। आशा है, अन्य संन्यासी की भाँति उसे देरी नहीं लगेगी। पत्र पाते ही तुम 'ब्रह्मवादिन्' के आय-व्यय का पूरा लेखा-जोखा भेजो, जिसे देखकर मैं यह सोच सकूँ कि इसके लिए क्या किया जा सकता है? यह याद रखो कि पवित्रता, निःस्वार्थ भावना और गुरु की आज्ञाकारिता ही सभी सफलताओं के रहस्य हैं।. . .

किसी धार्मिक पत्र की खपत विदेश में असम्भव है। इसे हिन्दुओं की ही सहायता मिलनी चाहिए—यदि उनमें भले-बुरे का ज्ञान हो।

बहरहाल, श्रीमती एनी बेसेन्ट ने अपने निवास-स्थान पर मुझे—भक्ति पर बोलने के लिए—निमंत्रित किया था। मैंने वहाँ एक रात व्याख्यान दिया। कर्नल आल्कॉट भी वहाँ थे। मैंने सभी सम्प्रदाय के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए ही भाषण देना स्वीकार किया। हमारे देशवासियों को यह याद रखना चाहिए कि अध्यात्म के बारे में हम ही जगद्गुरु हैं—विदेशी नहीं—किन्तु, सांसारिकता अभी हमें उनसे सीखनी है।

मैंने मैक्समूलर का लेख पढ़ा है। हालाँकि छः माह पूर्व जब कि उन्होंने इसे लिखा था। उनके पास मजूमदार के पर्चे के सिवा और कोई सामग्री नहीं थी। इस दृष्टि से लेख सुन्दर है। इधर उन्होंने मुझे एक लम्बी और प्यारी चिट्ठी लिखी है, जिसमें उन्होंने श्रीरामकृष्ण पर एक किताब लिखने की इच्छा प्रकट की है। मैंने उन्हें बहुत सारी सामग्री दी है, किन्तु भारत से और भी अधिक मँगाने की आवश्यकता है।

काम करते चलो। डटे रहो बहादुरी से। सभी कठिनाइयों को झेलने की चुनौती दो।

देखते नहीं, वत्स, यह संसार दुःखपूर्ण है।

प्यार के साथ,
विवेकानन्द

कर्म, कर्म, कर्म—हम और कुछ नहीं माँगते हैं। कर्म, कर्म, कर्म,—even unto death (मरते दम तक)। दुर्बलों को कर्मवीर महावीर होना होगा.... भूखे के पेट में अन्न पहुँचाते यदि नाम-धाम सब रसातल में भी चला जाय, तो अहोभाग्यम् अहोभाग्यम्।.... यही तो पूजा है—नरनारीदेहधारी प्रभु की पूजा है, शेष सब तो है 'नेदं यदिदमुपासते'।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके उन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उदबोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं।—स०)

दूसरा प्रवचन

पहली मुलाकात के बाद विदा लेते समय मास्टर महाशय—श्री महेन्द्रनाथ गुप्त—जो 'वचनामृत' में 'श्री म' के नाम से परिचित हैं, से ठाकुर बोले, "फिर आना।" इस प्रथम दर्शन के बाद से ही उनको लगने लगा है कि भले ही ठाकुर का रहन-सहन साधारण व्यक्ति की भाँति है, तथापि उनकी प्रत्येक बात में से, प्रत्येक आचरण में से उनका असाधारणत्व फूटा पड़ रहा है।

इन्हीं के सम्बन्ध में तो वृन्दादासी ने कहा था, "अरे

बाबा, किताब-विताब ! सब तो उनके मुँह में है !" इसी-लिए मास्टर महाशय सोच रहे हैं कि बिना पढ़े-लिखे इतना ज्ञान कैसे होता है ?

और एक बात; बात बहुत छोटी होते हुए भी विशेष तात्पर्यपूर्ण है। मास्टर महाशय कह रहे हैं, "कैसा आश्चर्य है, फिर से आने की इच्छा हो रही है।" यह जो आकर्षण मास्टर महाशय अनुभव कर रहे हैं, इस अज्ञात आकर्षण से उनका सम्यक् परिचय नहीं है।

यह आकर्षण जिसका परिचय हम लोग 'वचनामृत' और 'लीलाप्रसंग' में पाते हैं, इसका अनुभव ठाकुर के अन्तरंग भक्तों में अनेकों ने किया है। उस दुर्निवार आक-र्षण की उपेक्षा करने की क्षमता उनमें नहीं थी। ठीक इसी प्रकार के एक आकर्षण का अनुभव मास्टर महाशय ने किया। इसीलिए कह रहे हैं, "उन्होंने भी कहा है 'फिर आना'। सो कल या परसों सुबह फिर आऊँगा।" यदि ठाकुर 'फिर आना' न भी कहते, तो भी मास्टर महाशय को आना ही पड़ता—ऐसा है वह दुर्निवार आकर्षण।

इसके बाद है दूसरे दिन की बात। मास्टर महाशय ठाकुर का दूसरी बार दर्शन करते हैं। सुबह के आठ बजे हैं। ठाकुर हजामत बनवाने के लिए बैठ रहे हैं। फिर भी मास्टर महाशय को देखकर बोले, "तुम आ गये ? अच्छा, यहाँ बैठो।" ठाकुर हजामत बनवाएँगे और वहीं पर मास्टर महाशय के समान एक प्रायः अपरिचित व्यक्ति

बैठे रहेंगे, यह शिष्ट समाज में कुछ अशोभनीय प्रतीत होता है। लेकिन ठाकुर के पास किसी प्रकार की औपचारिकता नहीं है। वे हजामत बनवाते हुए ही मास्टर महाशय से वार्तालाप कर रहे हैं।

मास्टर महाशय ठाकुर की वेश-भूषा का वर्णन करते हैं। "देह पर मोलस्किन की चादर है, ... पैर में स्लीपर और मुख पर हँसी है। बात करते समय थोड़ा तुतलाते हैं।" मोलस्किन माने एक प्रकार का गरम कपड़ा। बेलुड़मठ में रहते समय इस कपड़े का एक टुकड़ा हम लोगों को देखने को मिला था। ठाकुर हँसमुख थे और थोड़े तोतले थे। जो लोग ठाकुर के संस्पर्श में आये थे, वे बताते थे कि यह जो ठाकुर 'थोड़े तोतले' थे यानी बात करते समय कुछ अटकते थे, उससे उनकी बातें और भी मीठी लगती थीं। मास्टर महाशय को देखकर ठाकुर प्रश्न करते हैं, "कहो जी, केशव* कैसा है ?"

केशव और ब्राह्म-समाज

केशव के साथ मास्टर महाशय का जो परिचय है, वह ठाकुर के जानने की कोई बात नहीं है। यह हो सकता है कि उन दिनों के शिक्षित समाज में ऐसा कोई न रहा होगा, जो केशव को न जानता हो। केशव की असाधारण वाग्मिता, उनका नवीन धर्म-मत और उस धर्म-मत के पक्ष में उनकी युक्तिपूर्ण व्याख्या—इस सबने उस समय के नवशिक्षित समाज पर प्रबल प्रभाव डाला था।

---

*केशव चन्द्र सेन—ब्राह्मसमाज के नेता।

ठाकुर ने अपनी अन्तर्दृष्टि से मास्टर महाशय के अन्तः-करण को ठीक उसी तरह देख लिया था, जैसे काँच की आलमारी में रखी वस्तुएँ बाहर से स्पष्ट देख ली जाती हैं। अतः ठाकुर यह समझ गये थे कि केशव के साथ मास्टर महाशय का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आगे चलकर हम इस बात का परिचय पाएँगे कि ठाकुर और केशव एक दूसरे को किस दृष्टि से देखते थे। यद्यपि दोनों के मत में पर्याप्त अन्तर था, फिर भी ठाकुर केशव से अत्यधिक स्नेह करते थे और केशव भी ठाकुर के प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे।

ठाकुर मूर्तिपूजा करते थे, और इस पौत्तलिकता का विरोध ही ब्राह्मसमाज का प्रधान आन्दोलन था। ठाकुर सनातन धर्म के सारे अनुशासन मानते थे, और सनातन धर्म को न मानना ही ब्राह्मसमाज का धर्म था। लेकिन इस समस्त मत-भिन्नता का अतिक्रमण कर वे दोनों एक दूसरे के प्रति अद्भुत रूप से आकृष्ट थे।

जिन ठाकुर ने माँ (जगदम्बा) के पास कभी किसी पार्थिव वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं की, वे ही केशव की बीमारी के समय माँ के पास नारियल-चीनी की मनौती मानते हैं। बहिरंग दृष्टि से देखने पर तो तब हम समझ नहीं पाते थे कि ठाकुर और केशव सेन को बाँधनेवाला वह प्रेमसूत्र कहाँ है। पर इतिहास की साक्ष्य में आज हम देखते हैं कि जिस प्रयोजन के लिए ठाकुर का आना हुआ था, केशव उसके सहायक थे। हम बाद में देख पाते हैं कि केशव के माध्यम से ही ठाकुर उस समय के 'यंग बेंगाल'

से परिचित हुए। यहाँ तक कि अन्तरंग त्यागी शिष्यों में से अधिकांश का ठाकुर से परिचय इसी माध्यम से हुआ।

यह अवश्य है कि इस समाज के अनेक लोग ठाकुर के साथ समाज की घनिष्ठता को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। यहाँ तक कि जब एक बार नरेन्द्रनाथ की खोज में ठाकुर ब्राह्मसमाज की प्रार्थना-सभा में जा पहुँचे और वहाँ उन्हें समाधि लग गयी, तब समाज के कुछ लोग बत्ती बुझाकर अन्धकार कर देने में भी कुण्ठित नहीं हुए।

यह बात हम किसी सम्प्रदाय पर कटाक्ष करने के उद्देश्य से नहीं कह रहे हैं, अपितु इतिहास में यह सब घटना जिस प्रकार घटित हुई उस पर दृष्टि रखते हुए कह रहे हैं। फिर कटाक्ष करने का तो यहाँ पर कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि स्वयं ठाकुर ने 'आधुनिक ब्रह्मज्ञानियों को प्रणाम' कहकर उनके प्रति प्रणाम ज्ञापित किया है। यहाँ तक कि नरेन्द्रनाथ के निषेध करने पर भी समाज की वेदी को यह कह प्रणाम किया है कि 'जहाँ भगवान् की चर्चा होती है, वह स्थान अत्यन्त पवित्र होता है।' जो हो, जिस ब्राह्मसमाज के साथ ठाकुर का ऐसा सम्बन्ध था, उसके साथ मास्टर महाशय का भी सम्बन्ध है, यह बात ठाकुर ने या तो अपनी अन्तर्दृष्टि से देख ली थी या फिर सामान्य बुद्धि से समझ ली थी।

श्रीरामकृष्ण—संन्यासी और गृहस्थ के आदर्श

इसके पश्चात् ब्राह्मनेता प्रताप चन्द्र मजुमदार के

भाई की बात उठी। उन्होंने ठाकुर के पास रहने की इच्छा व्यक्त की थी, पर ठाकुर ने उनका तिरस्कार करते हुए, स्त्री-पुत्र के प्रति अपने दायित्व को निभाने के लिए उन्हें लौटा दिया था। इसी प्रकार उन्होंने प्रताप हाजरा नामक एक और व्यक्ति की भी माँ और स्त्री-पुत्र के प्रति अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने के कारण भर्त्सना की थी। अब इस बात को बहुत से लोग ठीक से समझ नहीं पाते थे कि जो ठाकुर 'त्याग के मूर्तिमान विग्रह' हैं, जो अपने संन्यासी-शिष्यों को संसार की हवा से दूर रहने के लिए बार बार उपदेश देते हैं, वे ही फिर कैसे संसार-त्याग करने के इच्छुक किसी किसी भक्त को भर्त्सना कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में किसी किसी भक्त के प्रश्न के उत्तर में ठाकुर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिन लोगों ने संसार में गार्हस्थ्य स्वीकार किया है, उनका सांसारिक कर्तव्यों की उपेक्षा करना उचित नहीं है।

वे लोग त्याग करेंगे मन से, लेकिन जो संन्यासी हैं, वे लोग भीतर और बाहर दोनों प्रकार से त्याग करेंगे।

यहाँ पर कोई सोच सकते हैं कि ठाकुर ने यह जो मन से त्याग करने की बात कही, उससे ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने आदर्श को जरा dilute (शिथिल) कर दिया। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है।

कारण यह है कि ठाकुर का आगमन मात्र मुट्ठी भर संन्यासियों के लिए नहीं हुआ था। वे आचार्य हैं, जगद्गुरु हैं। उनके उपदेशों का सर्वजन-उपयोगी होना आवश्यक

है। जो जिस अवस्था में है, उसे उसी अवस्था से चरम-लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग दिखा देना होगा। तभी तो वे ईश्वरावतार होंगे, तभी तो जीवों के कल्याण के लिए उनका देहधारण होगा। क्या संन्यासी, क्या गृहस्थ, वे सभी के आदर्श हैं। उनमें सभी अपने अपने आदर्श की अभिव्यक्ति देख पाते हैं।

इसलिए जब वे एक ओर संसार को स्वीकार करते हैं, तो माँ की सेवा करते हैं, पत्नी को सहधर्मिणी के रूप में अपने समीप रखते हैं, और तब भी वे संन्यासी-सन्तानों के समक्ष त्याग की ज्वलन्त मूर्ति हैं। एक ही आधार में जो यह त्यागी और गृहस्थ का आदर्श है, यही ठाकुर का वैशिष्टच है। उपनिषद् कहता है—'त्यागेनैके अमृतत्व-मानशुः'—त्याग के द्वारा कोई कोई अमृतत्व प्राप्त कर सकता है। इससे सन्तुष्ट न हो स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने कहा है—'त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः'—एकमात्र त्याग के द्वारा ही अमृतत्व प्राप्त होता है, अन्य उपाय से नहीं। सोचा जा सकता है कि तब तो अमृतत्व पर मात्र संन्या-सियों का अधिकार है। ठाकुर कहते हैं—"ऐसा क्यों?" देखना होगा कि असली त्याग कौन सा है। असली त्याग है मन से त्याग, भीतर से त्याग। यदि यह कोई कर सका, तो वही सच्चा त्याग होगा। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि तब तो संन्यासियों के लिए भी मन से त्याग होने से काम चल जायगा, फिर उनके बाहरी त्याग की क्या आवश्यकता है?

यहाँ इस बात को भूलना उचित नहीं होगा कि

संन्यासियों का जीवन आदर्शस्वरूप है, इसीलिए उनके लिए भीतर और बाहर दोनों प्रकार का त्याग है। तो फिर गृहस्थ के लिए यही विधान ठाकुर क्यों नहीं देते ? इसलिए कि वह जिस आश्रम में है (जैसे गृहस्थाश्रम), उस आश्रम में उसका यही आदर्श है, एकमात्र यही अनुसरण योग्य पथ है। इस बात को भूलकर यदि हम लोग आश्रम का विचार न करते हुए त्याग के आदर्श को अविवेकपूर्वक ग्रहण करने की चेष्टा करें, तो इसका क्या परिणाम हो सकता है, वह बौद्ध धर्म ने दिखा दिया है।

बौद्ध धर्म का दोष

बौद्ध धर्म में सबके लिए त्याग के आदर्श पर इतना अस्वाभाविक जोर दिया गया कि सबको ऐसा लगा कि संन्यास छोड़कर अन्य कोई मार्ग नहीं है। परिणाम यह हुआ कि हजारों लोग अविवेकपूर्वक संन्यासी हो गये। और उसका जो परिणाम हुआ, उसका इतिहास साक्षी है। स्वभाव को देखते हुए जो संन्यास के अधिकारी नहीं थे, वे भी एक दूसरे की देखा-देखी उस पथ पर चल पड़े; फलस्वरूप वे आदर्श को विकृत कर बैठे और अधःपतित हो गये। इसलिए ठाकुर सावधान कर देते हैं, स्वामीजी भी सावधान कर देते हैं कि पात्रता का बिना विचार किये संन्यास-ग्रहण हमारा आदर्श नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में जैसे संन्यासी का स्थान है, वैसे ही गृहस्थ का भी।

संन्यासी और गृहस्थ के सन्दर्भ में 'कर्मयोग' के एक अध्याय में चर्चा करते हुए स्वामीजी ने कहा है कि जब

मनुष्य भिन्न भिन्न पथ से चलकर अपने चरमलक्ष्य तक पहुँचते हैं, तब भले ही पथ भिन्न भिन्न होते हैं, पर लक्ष्य भिन्न भिन्न नहीं होता। लक्ष्य तो एक ही है, दोनों एक ही जगह पहुँचते हैं, केवल चलते समय उनके पथ में भिन्नता दिखायी देती है।

एक बार स्वामी सारदानन्दजी के पास आकर एक व्यक्ति ने कहा कि वह संसार का त्याग करना चाहता है। उस समय हम वहाँ उपस्थित थे, सुन रहे थे।

स्वामी सारदानन्द बोले, "बच्चू, तुम तो संसार का त्याग करोगे। पर मैं तो अभी तक नहीं कर सका। देखो न, कितना जकड़ा हुआ हूँ। एक समय एक कपड़े में उत्तर भारत का भ्रमण किया, ठण्डी जगह में भी एक ही कपड़ा था। पर अभी देखो न, कितना लपेटा हुआ हूँ। त्याग भला कहाँ हुआ ?" उस समय ठण्ड के दिन थे, इसीलिए शरीर पर कुरते-चादर थे। फिर वात की तकलीफ के कारण वे कुछ ज्यादा ही गरम कपड़ा व्यवहार में लाते थे।

तात्पर्य यह कि जितने दिन शरीर है, तब तक उसको स्वस्थ रखने के लिए उसकी बहुत सी आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। इसलिए शरीर के प्रति हमारा एक कर्तव्य है। इसी प्रकार आत्मीय-स्वजनों के प्रति, देश के प्रति, विश्व के प्रति कर्तव्य है। इतने कर्तव्यों के रहते हुए हम जो कहते हैं कि मैं सब त्याग दूँगा, यह क्या इतना सहज कार्य है ? तो, क्या कर्तव्यों के बन्धन से हमारी मुक्ति नहीं है ? ठाकुर ने इसका भी उत्तर दिया

है, कहा है—रिहाई है, यदि कोई पागल हो जाय, तब उस पर कोई कानून नहीं चलता। 'गीता' में भगवान् ने कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३।१७

—जो व्यक्ति आत्मा से ही प्रेम करता है तथा आत्मा में ही तृप्त एवं आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसका कोई कर्तव्य नहीं है। जब तक मैं एक व्यक्ति हूँ, समाज की एक इकाई हूँ, तब तक कर्तव्य के हाथ से मेरा छुटकारा नहीं है। यदि मैं अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह से मिटा सकूँ, 'तस्य कार्यं न विद्यते'—तब मेरा और कोई कर्तव्य नहीं रह जाएगा।

क्या सभी संन्यासी अपने 'मैं' को मिटा सके हैं? यह जब तक नहीं कर सकते, तब तक वे भी कर्तव्य से मुक्त नहीं हैं। कौन अपनी छाती पर हाथ रखकर कह सकता है कि हमने अपने 'मैं' का नामोनिशान मिटा दिया है?

यह एक स्वविरोधी बात है, जिसका खण्डन हमारे अपने ही शब्दों के द्वारा हो रहा है। जो हो, कर्तव्य के हाथ से छुटकारा नहीं है। व्यक्ति ने अपना जो कर्तव्य स्वीकार किया है, या जो कर्तव्य उस पर न्यस्त हुआ है, उसका उसे निर्भूल रूप से, निर्लिप्त होकर पालन करना पड़ेगा। और जो जितनी ही पूर्णता एवं निर्लिप्तता से उसका पालन कर सकेगा, वह उतना ही शीघ्र इस बन्धन से मुक्त होगा। ठाकुर का यह अन्तिम उपदेश प्रताप के

भाई के प्रसंग में दिया गया था। इस उपदेश का चरम निष्कर्ष हुआ—कर्तव्य को तब तक अस्वीकार करने से नहीं चलेगा, जब तक हमारा 'मैं' पूरी तरह से लुप्त नहीं हो जाता। इसीलिए कहा कि जब कोई भगवान् के लिए पागल हो जाता है, तब उस पर कोई कानून नहीं चलता।

इस अध्याय की परिसमाप्ति के समय हमें इस बात का स्मरण रखना होगा कि हम लोगों का प्रताप के भाई की तरह होने से नहीं चलेगा, क्योंकि वह पलायनवादी था, कर्तव्य से भागना चाहता था। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं, "सब 'उनका' है—इस ज्ञान से करो; संसार के भीतर उनको देखने की चेष्टा करो; उनका संसार है—इसे अनुभव करने की चेष्टा करो।" यदि यह न कर सके, तो हम लोगों को बड़े घर की नौकरानी के समान विचार करना पड़ेगा कि उन्हीं ने हमें यह दायित्व देकर रखा है। यह भार उन्हीं का दिया हुआ है, यह समझकर सब वहन करना पड़ेगा। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'—मैं यह सब कर्म करते हुए, अपना कर्तव्य करते हुए उनकी कृपा से सिद्धिलाभ करूँगा, क्योंकि इस सबके द्वारा उनकी ही पूजा की जा रही है। 'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्'—हे प्रभु, मैं जो कुछ करता हूँ, वह सब तुम्हारी पूजा है, तुम्हारी आराधना है।

●

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (११)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्-बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है।—स०)

स्थान—रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, काशी

२७ जुलाई १६२०

महाराज—समाधि में मनोनाश होता है। मन का नाश होना माने बुद्धि का पूर्ण विकास होना। मन बिलकुल ही नष्ट हो जाता हो ऐसी बात नहीं है। व्यावहारिक जगत् में शुद्ध मन के द्वारा निश्चयपूर्वक एक आत्मा में दृढ़ निष्ठा रखते हुए सभी के भीतर उसी एक आत्मा को देखते हुए व्यवहार करना—यही मनोनाश है। इसी अवस्था को लक्ष्य कर गीतादि शास्त्रों में 'धीर', 'आत्मवान्', 'प्रशान्तधीः' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। श्रीराम कृष्णदेव भी कहा करते थे—शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि, शुद्ध आत्मा सब एक ही वस्तु हैं।

२८ जुलाई १६२०

महाराज—मृत्यु के समय एक बाहरी शक्ति के साथ भीतरी शक्ति का द्वन्द्व होने लगता है। वैसे ये दोनों शक्तियाँ भिन्न नहीं हैं। मानो एक बड़े वृत्त के अन्दर एक छोटा वृत्त हो। बड़ा वृत्त छोटे वृत्त को तोड़ डालना चाहता है। जग-न्नाथपुरी में एक बार मैं जब मर ही रहा था, उस समय

यह बात मैंने स्पष्ट रूप से अनुभव की थी। मुझे प्रतीत हुआ, मानो मैंने एक पाँव दरवाजे के बाहर बढ़ाया है और दूसरा भीतर ही है। मुझे बाहर और भीतर दोनों ही दीख रहे थे। आसक्ति न रहे तो मृत्यु भयाबह प्रतीत नहीं होती। इस आसक्ति का त्याग करना होगा। विषय-विशेष पर आसक्ति या प्रेम हो जाने से ही गड़बड़ होने लगती है।

"गंगा में डुबकी लगाने पर सिर पर कई मन का भार होने पर भी भार महसूस नहीं होता, पर बाहर एक घड़ा पानी सिर पर लेने से भारी लगता है। उसी प्रकार संसार के सब लोगों को प्रेम करने से बन्धन नहीं होता, पर किसी विशेष विषय पर प्रेम हो तो बद्ध हो जाना पड़ता है। यह सब, भाई, यदि पटक दे सको, तो ही शान्ति और मुक्ति की आशा कर सकते हो। सदा विचार करते रहने पर बुद्धि खुल जाती है। जो व्यक्ति सत्यप्राप्ति के लिए सर्वदा विचार करता है, सत्य उसी के सामने प्रकट होता है। विचाररूपी खड्ग सदा पास रखे रहना चाहिए। 'गीता' में में भगवान् ने कहा है—असंग-शस्त्र के द्वारा संसार-बन्धन को काटकर वह पद प्राप्त कर लेना होगा, जहाँ से जीव पुनः नहीं लौटता।"

मोह के सन्दर्भ में 'श्रीमद्भागवत' के एकादश स्कन्ध से कबूतर-कबूतरी की आख्यायिका बतलाकर महाराज ने कहा—"कबूतर ने जब देखा कि सभी जाल में फँस गये हैं, तो 'मैं भी फँसूँ' यह सोच वह भी जाल में फँस गया। लोग इसी प्रकार मोह में पड़कर नष्ट हुआ करते हैं।

क्या अजब भ्रमजाल तूने छा रखा है महामाये।
विष्णु ब्रह्मा भी अचेतन, जीव कैसे जान पाये ।।

महामाया ज्ञानियों तक को भ्रमित कर देती हैं। 'सप्त-शती' में है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।।

—अर्थात् वह देवी भगवती महामाया ज्ञानियों के भी चित्त को बलपूर्वक खींचती हुई मोह में डाल देती हैं। फिर—

तया विसृज्यते विश्वं जगदेतद् चराचरम्।
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ।।

—अर्थात् उन्होंने ही यह चर-अचर सारा जगत् सृजन किया है, उन्हीं के प्रसन्न होकर वरदान देने पर जीव की मुक्ति होती है। जो हो, मन को यदि शुद्ध बना सको, तो सब ठीक हो जायगा। शुद्धचित्त व्यक्तियों के लिए बहिर्जगत् की सभी सहायक घटनाएँ तैयार रहती हैं। उन्हें सभी चीजें उन्हीं के लिए तैयार दिखायी देती हैं। स्वामीजी जब पहली बार अमेरिका गये, तब मैं बम्बई के मार्ग पर उनके साथ कुछ दूर तक गया था। ट्रेन से जाते समय उन्होंने मुझसे कहा—'अमेरिका में यह जो सब तैयारियाँ हो रही हैं, वह सब (अपनी ओर दिखाते हुए) इसके लिए है। मेरा मन मुझसे यह कह रहा है। तुम शीघ्र ही देख पाओगे।' श्रीरामकृष्ण की ही बातें लो न। दक्षिणेश्वर का काली मन्दिर उन्हीं के लिए बना। यह सब व्यवस्था पूर्व से ही नियोजित थी। गोविन्द ! गोविन्द !"

७ दिसम्बर १९२०

एक शिक्षित युवक कुछ दिन पहले रामकृष्ण मठ के किसी केन्द्र में जाकर कुछ दिन रहा था। उसकी इच्छा थी कि वह पूरी तरह से संसार त्यागकर भगवान् और देश के कार्य में जीवन का उत्सर्ग करे। परन्तु थोड़े ही दिनों में शरीर की अस्वस्थता, सांसारिक अभाव आदि नाना कारणों से उसे चले जाना पड़ा। प्रसंगत: उसकी बात निकली। जिस आश्रम में वह जाकर रहा था, उसके अध्यक्ष वहीं उपस्थित थे। उन्हें सम्बोधित कर तुरीयानन्दजी बोले, "लड़का चला गया। तुम लोग उसे रख नहीं सके। थोड़ा प्रेम देना चाहिए। नये आये लड़के के साथ खूब प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव करना चाहिए। ऐसा करने पर वे कभी नहीं जा सकते।"

८ दिसम्बर १९२०

प्रातःकाल मठ के कुछ साधु आकर स्वामी तुरीयानन्दजी के पास बैठे। बात ही बात में स्वामी विवेकानन्दजी का प्रसंग छिड़ा। स्वामी तुरीयानन्दजी कहने लगे, "स्वामीजी कहते थे—धर्म ही भारत का प्राण है। भारत का यह भाव अभी भी अक्षुण्ण है। भारत में चिरकाल से धर्मवीर साधुपुरुष जन्मते आ रहे हैं। भारत को सम्पूर्ण जगत् में इस धर्म का विस्तार करना होगा। स्वामीजी की वाणी सच निकलेगी ही। देश फिर ऊपर उठेगा। स्वामीजी ने एक बार कहा था—इस बार मैंने कुछ भी कहने का बाकी नहीं रखा। वे सब कुछ कह गये हैं। अब उनके वही सारे भाव नानाविध प्रणालियों के भीतर से कार्यान्वित हो रहे हैं। महात्मा गाँधी उन्हीं में से एक प्रणाली हैं। स्वामीजी

ने जो सेवाधर्म का प्रवर्तन किया, वह अद्‌भुत घटना है। मेरा विश्वास है कि भारत का अभ्युत्थान अवश्य होगा। भले ही हम अपने जीवनकाल में न देख पाएँ, पर वह होगा निश्चित ही। इसी बीच काफी आरम्भ हो चुका है। ऐसा अभ्युत्थान न हो तो ठाकुर-स्वामीजी जैसे व्यक्तियों के आगमन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। स्वामीजी ने कई बार कितने ज्वलन्त शब्दों में भारत के भविष्य का गौरवपूर्ण चित्र अंकित किया है। उनकी भविष्यवाणी कभी झूठी नहीं हो सकती।''

दोपहर को नित्य के अनुसार भागवतपाठ हो चुकने के बाद वार्तालाप करते हुए महाराज कहने लगे, ''पाप त्रिविध हैं—कायिक, वाचिक तथा मानसिक। इनका फल यथाक्रम स्थावरत्व, पशुपक्ष्यादि योनि तथा अन्त्यज जन्म है।'' यह कहकर महाराज ने मनु का निम्नोक्त वचन (मनुस्मृति, १२।९) उद्‌धृत किया—

शारीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥

फिर बोले, ''मनुष्य-जन्म में ही मुक्ति का द्वार खुलता है। अतएव बड़ी सावधानी से चलना चाहिए। भोग आदि तो अन्य शरीरों में भी होता है। देह की ममता ही अन्तिम और प्रधान बन्धन है।

''बन्दरों का अपत्य-स्नेह बड़ा प्रबल होता है, परन्तु यदि प्राणों का संकट आ पड़े, तो दूसरे जानवरों की तरह वे भी अपने बच्चों की बात भूल अपने प्राण बचाने के लिए

व्यस्त हो जाते हैं।" पुराने जमाने के नवाबों का उल्लेख करते हुए महाराज ने कहा कि वे लोग कभी कभी जिस जंगल में बन्दर रहते हैं, उसमें आग लगाकर उनके अपत्य-स्नेह की परीक्षा किया करते थे। वृन्दावन में निवास करते समय महाराज स्वयं भी बन्दर के बच्चों को पकड़कर उनकी परीक्षा करते थे।

२० दिसम्बर १९२० (प्रातः)

महाराज—एकान्त या अव्यावृत भजन द्वारा मन की गति इस प्रकार बना लेनी चाहिए, जिससे हर समय अन-जाने में भी मन के भीतर एक प्रवाह चलता रहे। अधिक अभ्यास करने पर न केवल जाग्रत् अवस्था में—खाते, सोते, घूमते, सब समय—यह प्रवाह चलता रहता है, बल्कि निद्रावस्था में भी इसका विराम नहीं होता। ऐसे व्यक्ति अन्य किसी प्रकार का स्वप्न न देखते हों ऐसी बात नहीं है, पर स्वप्न के साथ ही साथ यह भाव भी भीतर ही भीतर चलता रहता है। इस भाव की साधना के समय अधिक लोगों से मिलना-जुलना या वार्तालाप नहीं करना चाहिए।

"स्वामीजी स्वामी प्रेमानन्दजी के साथ तरह तरह के विनोद किया करते थे। एक बार बात ही बात में कहा था—तुम लोगों के भला 'मन' भी है? वह तो 'छटाँक' है! तुम लोगों का 'हृदय' भी है? वह तो 'धौंकनी' है!"

२१ दिसम्बर १९२०

माया का प्रसंग चल रहा था। महाराज बोले—"माया अनिर्वचनीय विषय है—'है' भी नहीं कहा जा सकता और 'नहीं है' कहना भी गलत है। ठाकुर कहा करते थे—

जितनी बार स्त्री-सहवास होगा, उतनी ही बार जन्म लेना पड़ेगा। फिर हर जन्म में उसी संस्पर्श की सम्भावना है। इसलिए उपाय यही है कि प्रभु के शरणागत हो 'अब नहीं करूँगा' कहकर वह छोड़ देना। ऐसा करने पर पूर्व-कृत अपराध भी माफ हो जाते हैं। परन्तु जान-बूझकर अनजान बनने से नहीं चलेगा। इससे सूद के साथ सब पाप गरदन पर सवार होंगे। जो ठीक ठीक भक्त होता है, उसका कभी स्थायी रूप से पतन नहीं होता। ईश्वर की कृपा से उसकी फिर उन्नति होती है। एक बार गिरने से क्या अनन्तकाल तक पतन हो गया ? गलत बात है ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। फिर भक्त के पतन के द्वारा भी कई बार संसार का काम हो जाता है।",

माया और दया के प्रसंग में महाराज बोले—"माया और दया में बहुत अन्तर है। साधुओं को दया रखनी चाहिए, पर माया यानी 'मैं-मेरा' भाव नहीं रखना चाहिए। उसी से बन्धन होता है।"

ठाकुर का स्वामीजी पर या और किन्हीं किन्हीं शिष्यों पर जो प्रबल प्रेम था, उसका उदाहरण देकर इस विषय को समझाते हुए महाराज ने कहा, "ठाकुर स्वामीजी आदि में विशेष रूप से नारायण का प्रकाश देखते थे, इसी-लिए उनका उन लोगों के प्रति दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रेम था। उनमें यह नारायण-बुद्धि सदैव जागृत रहती थी, अतः उनके लिए बन्धन की आशंका ही कहाँ रही ?

"परन्तु महापुरुषों के लिए भी बन्धन की आशंका है। जैसे पुराणों में जड़भरत के सम्बन्ध में पढ़ने को मिलता

है। अतएव इस बन्धन को काटने के लिए पुरुषार्थ या उद्यम की सतत आवश्यकता है। उद्यम के द्वारा शीघ्र फल मिलता है। उद्यम चाहिए, अन्यथा यह कब होगा कुछ निश्चित नहीं। महापुरुषगण समय समय पर जो कहा करते हैं कि अमुक का यह अन्तिम जन्म है, उसका अर्थ है कि इसी जन्म में उसे ईश्वर-लाभ होगा। अज्ञान अनादि है, क्योंकि उसका आरम्भ खोजे नहीं मिलता। परन्तु ईश्वर-लाभ होने पर इस अज्ञान का पूरा नाश हो जाता है। फिर उसका पुनरुद्भव नहीं होता।"

यहाँ पर महाराज ने अज्ञान के अनादित्व के सम्बन्ध में गौड़पाद की 'कारिका' से श्लोक उद्धृत किया।

बात बात में ठाकुर की साधना का विषय निकला। महाराज कहने लगे—"गिरीशबाबू ने एक बार ठाकुर से पूछा, 'भला आपके लिए इतनी साधना क्यों?' इस पर ठाकुर ने कहा, 'हर-गौरी का मिलन तो नित्य ही है, फिर गौरी ने शिवजी को पाने के लिए इतनी साधना, इतनी तपस्या क्यों की? यह सब उदाहरण के लिए है। मैं सोलह आने करूँ तब कहीं दूसरे लोग शायद एक आना करें।' "

तत्पश्चात् मन की एकाग्रता एवं प्रत्यक्षानुभूति का विषय उठा। महाराज ने कहा, "मन के स्थिर होने पर प्राण आप ही स्थिर होता है। साँस धीरे धीरे चलने लगती है। जो भीतर नारायण का दर्शन करता है, उसे बाहर भी नारायण दिखायी देते हैं।"

२२ दिसम्बर १९२०

आज वार्तालाप के प्रसंग में महात्मा गाँधी की बात उठी। महाराज उनकी अत्यन्त प्रशंसा करने लगे। कहने लगे—"गाँधीजी ने ऋषित्व प्राप्त किया है, इस बात को दूसरा कोई विश्वास न भी करे तो मैं करूँगा। उनके द्वारा कहीं पर भी भूल नहीं हो रही है। राजा तक उनकी बात मान ले रहे हैं। क्या यह कम शक्ति की बात है? गाँधीजी के माध्यम से सत्य प्रकट हो रहा है। स्वामीजी के मुँह से भी पहले ये सब सत्य सुने थे। सत्य किसी की निजी सम्पत्ति नहीं है। स्वामीजी स्वयं ही यह कहा करते थे।"

फिर पराविद्या की बात छिड़ी। स्वामीजी कहने लगे—"स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो माया के पार जाने की बात अत्यन्त असम्बद्ध प्रतीत होती है। जैसे जड़भरत का राजा बहुगण के प्रति उपदेश। विचार करते करते साधारण ज्ञान उड़ जाता है। जैसे इस घर ही को लो। विचार करते करते यह केवल कुछ परमाणुओं की समष्टि ही प्रतीत होने लगता है। और अधिक विचार करते करते ये परमाणु भी ब्रह्मसत्तामात्र में परिणत हो जाते हैं। जैसे ठाकुर कहा करते थे, 'ताड़ का पेड़ ही सत्य है, पत्ते या फल सत्य नहीं हैं।' कारण, पत्ते और फल झड़ जाते हैं, पर ताड़ का पेड़ ठीक खड़ा रहता है। उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है और जगत् परिवर्तनशील होने के कारण अनित्य है। जगत् को समष्टिरूप से ग्रहण करने पर समझ में आ जाता है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। फिर विद्या तब तक है, जब तक अविद्या है। अविद्या चली जाने पर फिर

विद्या भी नहीं रहती। विद्या के द्वारा उस ब्रह्म को जाना जा सकता है, परन्तु विधा ब्रह्म नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही है। जब हम ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहते हैं, तब उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि ब्रह्म सचमुच ही सत्य, ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है। इसके द्वारा ब्रह्म के सम्बन्ध में केवल कुछ समझाने का प्रयत्न किया जाता है। वह असत्य नहीं है, अज्ञान नहीं है, दुःख नहीं है—यह समझाने के लिए ही वह सच्चिदानन्द है ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो वह वाणी और मन से अगोचर है।

"इसी देह के अन्दर ऐसा स्थान है, जहाँ मन को उठाये रख सकने पर कोई गड़बड़ नहीं रह जाती। दृष्टि बदलनी होगी। यह हुआ कि सब काम बन गया। अन्यथा तुम भागकर जाओगे कहाँ ?"

(क्रमशः)

●

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:— स्वामी निरंजनानन्द

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और मिशन, बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके जनवरी, १९७७ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।—स०)

एक दिन दोपहर में तीन व्यक्ति रानी रासमणि द्वारा निर्मित दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में परमहंस रामकृष्ण के दर्शन के लिए पहुँचे, जिनके प्रति ब्राह्मसमाज के महान् नेता केशव चन्द्र सेन की बड़ी श्रद्धा थी। उनमें से दो, जो बुजुर्ग-से थे, एक बीस वर्षीय युवक के साथ आये थे। वह युवक ऊँचा और खूबसूरत था तथा उसके केश घुँघराले थे। उसका राजकुमारों का-सा स्वरूप बड़ा प्रभावशाली था; उसके नेत्रों में साहस और आनन्द की चमक थी। यद्यपि वह प्रकृति से शान्त था, तथापि असाधारण प्रतिभा से युक्त वह एक उत्साही युवक था। उसमें अतीन्द्रिय दर्शन की शक्ति थी और उसका उपयोग कलकत्ता के अहीरी-टोलावाले डा० प्यारी चाँद मित्र के दल के लोग अपनी

प्लेंचेट की बैठकों में माध्यम के रूप में करते थे। प्रचण्ड साहस और बल का धनी होने के कारण साहसिक कार्यों को कर सकनेवाले के रूप में भी उसकी ख्याति हो गयी थी। साथ ही, विशेषकर गरीब और तिरस्कृत लोगों के प्रति अपनी दयालुता और धर्मनिष्ठा के कारण भी वह लोगों के बीच प्रसिद्ध हो चुका था। वह युवक और उसके साथी परमहंस को देखने आये थे, क्योंकि उन लोगों ने सुन रखा था कि उनमें बड़ी आध्यात्मिक शक्ति है। उन्हें सम्भवतः इस बात का पता नहीं था कि परमहंस के पास एक विशेष शक्ति थी, जिससे वे मनुष्य के भीतर को देख लेते और उसके मानसिक गठन को पहचान लेते थे। जैसे ही उनकी दृष्टि इस युवक पर पड़ी, परमहंस मन्द स्वर में कह उठे, "अहा, बढ़िया लड़का है, निष्कपट है।"

उस दल ने श्रीरामकृष्ण को अपने प्लेंचेट के लिए माध्यम बन जाने की प्रार्थना की। श्रीरामकृष्ण तो शिशु के समान सरल और निर्दोष थे, वे इसके लिए सहर्ष राजी हो गये और तदनुसार एक कुर्सी पर बैठ गये। वे लोग उन पर सम्मोहन करने लगे, पर पूरी कोशिश करने पर भी वे उन पर अपना प्रभाव नहीं जमा पाये; श्रीराम-कृष्ण पूरे समय शान्त भाव से बैठे रहे और कभी कभी मुसकराकर उनकी ओर देखते जाते। ऐसा लगता है कि उन्हें उन लोगों के प्रयोग में किसी प्रकार के गोलमाल का आभास हुआ, क्योंकि उसके बाद शीघ्र ही उन्होंने आगे और कुछ करने से इनकार कर दिया। हतोत्साहित होकर दल का एक वरिष्ठ सदस्य कह उठा, "आप निश्चित ही

असाधारण हठवाले व्यक्ति हैं। हम लोग आपको सम्मोहित करने में असफल रहे।"[1] दूसरी ओर परमहंस ने उस युवक में एक उन्नत साधक के लक्षण देखे, जिसके सम्बन्ध में उसके साथी लोग अनजान थे। इसके अलावा वे यह भी जान गये कि यह युवक उनके उन चुने हुए अन्तरंगों में से एक है, जो बाद में लोगों में आध्यात्मिक जागरण के लिए उनके सन्देशों का प्रचार करेंगे। परमहंस उस समय के महानतम आध्यात्मिक दिग्गज थे और विभिन्न धर्म और सम्प्रदायों के नेता लोग उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। जिस प्रकार लोहे को चुम्बक खींच लेता है, उसी प्रकार अपने पास आनेवाले सभी को, चाहे वह बालक हो या बूढ़ा, अज्ञानी हो या पण्डित, परमहंस अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। यह युवक था नित्यरंजन घोष (परवर्ती काल में स्वामी निरंजनानन्द), जिसे श्रीरामकृष्ण ने नित्यसिद्ध कहा था। श्रीरामकृष्ण के मतानुसार ऐसे नित्यसिद्ध पुरुष दूसरों की भलाई के लिए ही जन्म-ग्रहण करते हैं।

सम्भवतः १८६२[2] में २४-परगना जिले के राजार-

१. 'तत्त्वमंजरी' (बँगला), भाग ८, अंक ४, पृष्ठ ९४।

२. उनका निश्चित जन्म-दिन ज्ञात नहीं है। 'म'-कृत श्रीरामकृष्णवचनामृत' भाग ३ के पृष्ठ ६७० में लिखा है कि उनकी आयु (अप्रैल १८८७ में) लगभग पचीस वर्ष की थी। उनकी श्रावण-पूर्णिमा की मानी गयी जन्म-तिथि अभी तक ठीक से प्रमाणित नहीं हो पायी है।

हाट-विष्णुपुर ग्राम में एक मध्यमवर्गीय अभिजात्य परिवार में विशेष रूढ़िवादी वातावरण में नित्यरंजन (सामान्यतः निरंजन के नाम से परिचित) का जन्म हुआ था। उसके पिता थे अम्बिकाचरण घोष और मामा थे बारासात जिले के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् काली कृष्ण मित्र। उसके दूसरे मामा राज कृष्ण मित्र एक प्रसिद्ध होमियोपैथ थे।[3] निरंजन के बचपन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं है, परन्तु श्रीरामचन्द्रजी की कुछ कुछ विशिष्टताओं से युक्त हो जन्म लेने के कारण, जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, उसे बचपन में धनुष-बाण और तलवार आदि से खेलना अच्छा लगता था। अच्छी शिक्षा पाने के लिए उसे कलकत्ते के अहीरीटोले में अपने मामा काली कृष्ण मित्र के यहाँ भेजा गया। उसे पढ़ाई में उतनी रुचि नहीं थी जितनी प्रेतविद्या में, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में किया गया। प्रेतविदों के दल में एक संवेदनशील माध्यम के रूप में कार्य करनेवाले निरंजन पर प्रेत आ जाते और इस प्रकार उसमें ऐसी मानसिक शक्ति का विकास हो जाता, जिससे वह लोगों की व्याधियाँ दूर कर दे सकता। इससे एक लाभ उसे यह हुआ कि जब एक धनी व्यक्ति उसके पास इलाज करवाने के लिए आया, तो उसे देख निरंजन के मन में धन और सांसारिक सुखों के प्रति वितृष्णा जाग उठी। वह धनी व्यक्ति पिछले अठारह वर्षों से अनिद्रा के रोग से भुगत

३. बैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्री श्री रामकृष्ण लीलामृत' (बँगला) (वसुमति साहित्य मन्दिर, कलकत्ता–१२), पृष्ठ ३१२।

रहा था और उससे छुटकारा पाने के लिए निरंजन के पास आया था। निरंजन बाद में कहा करता कि उस व्यक्ति को कोई लाभ हुआ या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता, पर प्रचुर सम्पत्ति होने के बावजूद उसके भयानक कष्ट को देख इस जागतिक सम्पदा की निरर्थकता और खोखलापन मेरी समझ में आ गया। पर अब निरंजन को यह अनुभव होने लगा था कि इस शौक से उसे कुछ हासिल नहीं हो रहा है, बल्कि शारीरिक और मानसिक रूप से वह कमजोर होता जा रहा है। आध्यात्मिक भूख की तेज ज्वाला ने उस शौक को दबा दिया। श्रीरामकृष्ण ने निरंजन की इस आध्यात्मिक सम्भावना को पहली ही भेंट में अपनी अन्तर्दृष्टि से भाँप लिया था।

निरंजन के जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना तब घटी, जब वह बीस वर्ष का था (अठारह नहीं, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है)। यह वह दिन था, जब वह पहली बार श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए आया था और उन पर कुछ मानसिक प्रयोग करने की कोशिश की थी। वह १८८२ के पूर्वार्ध का कोई समय था।[४] कुछ और

४. परम्परा से ऐसा विश्वास किया जाता है कि श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट के समय निरंजन की उम्र अठारह वर्ष की थी। सिस्टर देवमाता लिखित Sri Ramakrishna and His Disciples (आनन्द आश्रम, ला-क्रिसेन्टा, कैलिफोर्निया, पृष्ठ ९३) के अनुसार—'क्रम के अनुसार बाबूराम के बाद निरंजन आये...। जब पहली बार श्रीरामकृष्ण से वे मिले, तब अठारह वर्ष के थे।'

दूसरे दर्शनार्थी भी उस दिन श्रीरामकृष्ण के पास उपस्थित थे। उन सबमें निश्चित ही निरंजन का व्यक्तित्व निराला था। उसके आकर्षक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था कि सिर्फ आँखें ही नहीं, उसके सब कुछ में उसके उज्ज्वल चरित्र का आकर्षण है।[५] वह

स्वामी गम्भीरानन्द ने अपने लेख ('त्यागी भक्तदेर श्रीरामकृष्ण समीपे आगमन' : उद्‌बोधन, वर्ष ५२, अंक १०, पृष्ठ ५२२) में निरंजन की प्रथम भेंट की अनुमानित तिथि पर विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने १८८२ के पूर्वार्ध का काल प्रथम भेंट का माना है। यदि हम १८६२ को जन्म-वर्ष मानें और प्रथम भेंट के समय आयु अठारह लें, तब यह भेंट १८८० में होनी चाहिए थी, परन्तु ऐसा स्वीकार्य नहीं होगा। 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' में स्वामी सारदानन्द ने प्रथम भेंट को १८८१ के बाद कभी माना है। फिर 'म' ने भी लिखा है, '१८८१ के अन्त अन्त में और १८८२ के प्रारम्भ में नरेन्द्र, राखाल, भवनाथ, बाबूराम, बलराम, निरंजन, 'म', योगिन आये। (Gospel of Sri Ramkrishna, 4th Ed., Vol. 1, Ramakrishna Math, Madras, 1924, Introduction, पृष्ठ ९-१०)। कुछ अन्य परिस्थितियों पर आधारित प्रमाणों से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रथम भेंट १८८२ के प्रारम्भ में हुई होगी, बहुत सम्भव फरवरी में।

५. 'म' : श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा० २ (रामकृष्ण मठ, नागपुर), द्वि० सं०, पृ. २५०।

स्वाभाविक रूप से ही सबको आकर्षित कर लेता। निरंजन के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने व्यक्त किया था कि 'यह एकदम सरल है',[६] इसका 'पुरुष-भाव है',[७] 'देखो न, निरंजन किसी में लिप्त नहीं है। खुद रुपया लगाकर गरीबों को दवाखाने ले जाया करता है।'[८] उसकी आध्यात्मिक स्थिति के बारे में श्रीरामकृष्ण ने व्यक्त किया था कि वह एक प्रकार से असाधारण है।[९]

पहली भेंट के दिन जब प्रेतविदों का प्रयोग शेष हो गया, तब श्रीरामकृष्ण उपस्थित भक्तों के साथ फिर धर्म-चर्चा करने लगे। बालक-जैसी प्रसन्न मुद्रा में, जो कि श्रीरामकृष्ण का स्वभाव बन गया था, विभोर होकर दिव्य जीवन पर उपदेश देते हुए श्रीरामकृष्ण ने उपस्थित भक्तों को मुग्ध कर दिया। घरेलू चुटकुलों और कथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त हुए उच्च आध्यात्मिक सत्यों ने श्रोताओं के हृदय को सहज ही छू लिया। ऐसा लगा मानो श्रीरामकृष्ण दिव्य चेतना में गहरी डुबकी लगा रहे हैं। वास्तव में अधिकांश समय वे तो उच्च भाव में ही रहते। श्रीरामकृष्ण उस समय लगभग छियालीस वर्ष के थे, और उस समय देश में जो आध्यात्मिक पुनर्जागरण की एक लहर उठी थी, उसके वे एक प्रमुख आधार और

---

६. 'म' : वही, भा० २, पृ. १४१।

७. 'म' : वही भा० ३, पृ. १६३।

८. 'म' : वही भा० ३, पृ. २१४।

९. 'म' : वही भा० २, पृ. १६१।

मुख्य केन्द्र के रूप में जाने जाने लगे थे। निरंजन श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व से काफी प्रभावित हुआ; परन्तु यह उसकी तुलना में कुछ न था, जो परमहंस ने कुछ समय बाद उसके प्रति किया और कहा था।

सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था। परमहंस के धर्मोपदेश की मोहकता अभी भी वातावरण में व्याप्त थी कि लोगों को यह भान हुआ कि उन्हें वापस लौटना है। श्रीरामकृष्ण तो दया और सहानुभूति से भरे हुए थे; वे अपने पास आनेवाले भक्तों या आगन्तुकों को, जो स्वतंत्र रूप से भाड़ा देने में असमर्थ रहते, दूसरों द्वारा किराये से लायी गयी नाव या गाड़ी में स्थान दिलाने की व्यवस्था कर देते थे। हर एक भक्त उनके किसी आदेश को पूरा करने का सौभाग्य पाने पर अपने को धन्य अनुभव करता।[१०]

श्रीरामकृष्ण यदि चाहते तो बहुत आसानी से किसी नाव में निरंजन के लिए जगह बनवा देते, परन्तु उन्होंने उसे रुकने के लिए कहा। एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार, उन्होंने बड़े प्रेम से कुछ मिठाई निरंजन को खाने के लिए दी।[११] उसके पश्चात् वे इस युवक को कमरे के एक कोने में ले जाकर उससे इस प्रकार घुल-मिलकर बातें करने

१०. गुरुदास बर्मन : 'श्रीरामकृष्ण चरित' (बँगला), उद्बोधन, कलकत्ता-३, भा० १, पृ. २१६।

११. अक्षयकुमार सेन : 'श्री श्रीरामकृष्ण पुँथि' (बँगला), उद्बोधन, च० सं०, पृ. ३१८।

लगे मानो वह उनका अपना एक जन हो। उससे उसके घरबार के बारे में पूछने लगे। उन्होंने बड़ी आन्तरिकता के साथ उससे पूछा, "देख, यदि तू अपना मन भूत-प्रेत में लगाएगा, तो तू भी भूत-प्रेत बन जाएगा। पर यदि भगवान् में अपना मन लगाएगा, तो तेरा जीवन दिव्य हो जाएगा। अब बता, तू किसे पसन्द करेगा?" निश्चय ही दिव्य बनना चाहूँगा," निरंजन ने तत्काल उत्तर दिया। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने निरंजन को प्रेतविदों के कार्यकलापों से दूर रहने की सलाह दी। निरंजन को लगा कि उसके साथ कुछ घट रहा है—ऐसा कुछ, जिस पर उसका कोई जोर नहीं। उसने उन्हें सहर्ष यह आश्वासन दिया कि वह प्रेतविदों का साथ छोड़ देगा। इस प्रकार निरंजन एकदम श्रीरामकृष्ण के आकर्षण में बँध गया।

उसके बाद श्रीरामकृष्ण कुछ समय तक निरंजन के साथ बातें करते रहे और उसके सम्बन्ध में बनायी अपनी धारणा से प्रसन्न हुए। वार्तालाप के दौरान उन्होंने उससे कहा, "देख, यदि तू संसारी लोगों के प्रति निन्यानबे प्रतिशत अच्छा और एक प्रतिशत बुरा करे, तो भी वे तुझे कोसेंगे, परन्तु यदि भगवान् के प्रति निन्यानवे अपराध करे और मात्र एक कार्य उनकी सन्तुष्टि के लिए करे, तो भी वे तेरे सारे अपराधों को क्षमा कर देंगे। भगवान् और मनुष्य के प्रेम में इतना अन्तर है।"[१२]

१२. चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय 'श्री श्री लाटूमहाराजेर स्मृतिकथा' (बँगला), उद्बोधन, द्वि.सं., पृ. ४००।

निरंजन ने उनके इस उपदेश को अमूल्य धरोहर के समान स्वीकार किया। वह उसके अन्तस्तल की गहराइयों में भिद गया।

श्रीरामकृष्ण निरंजन से काफी सन्तुष्ट हुए। वे उससे बोले, "अब तो अँधेरा हो चला है। अब क्यों वापस जाएगा? क्यों नहीं यहीं रुक जाता?" परन्तु निरंजन तैयार नहीं हुआ। श्रीरामकृष्ण ने कई बार उससे कहा, "मेरे बच्चे, तेरे लिए इतनी दूर जाना बड़ा कष्टप्रद होगा। मत जा। रात यहीं बिता ले।" पर युवक को कुछ भी उसके निश्चय से नहीं डिगा सका। पर इससे श्रीरामकृष्ण नाराज न हो प्रसन्न ही हुए। अन्त में उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा, "अच्छा, ठीक है जा; पर यहाँ फिर जरूर आना। कब आएगा?" निरंजन पुनः आने का वादा कर श्रीरामकृष्ण की चरणधूलि ले कलकत्ता के लिए रवाना हुआ। श्रीरामकृष्ण के प्रेम और अपनत्व से अभिभूत निरंजन इस समय यह कल्पना भी नहीं कर सका था कि उसके भविष्य में होनेवाली महत् घटनाओं का यह मात्र शुभारम्भ था।

निरंजन घर की ओर चल तो रहा था, पर उसका मन श्रीरामकृष्ण की ओर ही खिचा जा रहा था। वह बार बार सोच रहा था कि उसे दक्षिणेश्वर में ही रुक जाना था। परन्तु फिर सोचता कि लौटकर ठीक ही किया, नहीं तो उसके मामा बहुत रुष्ट हो जाते। पर अब निरंजन को अहसास हो गया था कि श्रीरामकृष्ण उससे स्नेह करते हैं। अब उसका व्यक्तित्व बदला हुआ था।

वास्तव में श्रीरामकृष्ण ने निरंजन के मन को इतना अधिक प्रभावित कर दिया था कि उसका सारा चिन्तन उन्हीं के सम्बन्ध में होता। जब तक वह दुबारा दक्षिणेश्वर नहीं जा सका, तब तक वे कुछ दिन निरंजन ने बड़ी बेचैनी से काटे। वह लगभग सन्ध्या का समय था, जब निरंजन ने श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रवेश किया। जैसे ही श्रीरामकृष्ण की निगाहें निरंजन पर पड़ीं, उन्होंने लपककर उसे स्नेहपूर्वक अपने से चिपटा लिया और बड़े व्यथित स्वर में कहा, "अरे, निरंजन, समय भागा जा रहा है, तू कब भगवान् को पाने की चेष्टा करेगा ? दिन बीतते जा रहे हैं और यदि तूने भगवान् को नहीं पाया, तो व्यर्थ जीवन गँवाया। मुझे बता, तू कब साक्षात्कार के लिए कोशिश करेगा, कब भगवान् के चरणकमलों में अपना चित्त लगाएगा ? मैं तेरे लिए सचमुच आतुर हूँ।" आश्चर्य से भरकर निरंजन मन ही मन सोचने लगा, 'सचमुच अद्भुत है ! मैंने ईश्वर को नहीं पाया है इसके लिए ये क्यों इतने आतुर हैं ? ये कौन हो सकते हैं ?' श्रीरामकृष्ण के वचनों ने उसके कोर कोर को हिला दिया। श्रीरामकृष्ण की अपने प्रति गहरी चिन्ता और सहृदयता को देख निरंजन को अपने भीतर भगवान् के साक्षात्कार की तीव्र लालसा का अनुभव होने लगा। वह पूरी तरह से अभिभूत हो उठा। उसे लगा कि श्रीरामकृष्ण उसके अपने हैं, और यह भाव इतना प्रबल हो गया कि इस बार श्रीरामकृष्ण को उसे रात रुकने के लिए नहीं कहना पड़ा। वास्तव में, उसने तीन दिन वहाँ उनके साथ

बड़े आनन्द में बिताये। श्रीरामकृष्ण के एक जीवनीकार ने सच ही लिखा है, 'निरंजन को किसी तर्क की आवश्यकता नहीं थी। आध्यात्मिक जीवन और भगवान् को चुनने के लिए उसके मन में श्रीरामकृष्ण ही सर्वोपरि कारण थे।'[१३]

अब निरंजन के लिए दिव्य ज्ञान के अनन्त विस्तार वाले एक अज्ञात संसार का द्वार खुल गया था। परमगुरु श्रीरामकृष्ण तो जान गये थे कि निरंजन नित्यसिद्ध है। "नित्यसिद्ध की एक अलग ही श्रेणी है, जैसे 'अरणि' काठ, जरा सा रगड़ने से ही आग पैदा हो जाती है, और न रगड़ने से भी होती है। नित्यसिद्ध थोड़ी सी साधना करने पर ही ईश्वर को पा जाता है और साधना न करने पर भी पाता है। हाँ, नित्यसिद्ध ईश्वर को पा लेने पर साधना करते हैं। जैसे कोहड़े का पौधा, पहले उसमें फल लगता है, तब ऊपर फूल होता है।"[१४] श्रीरामकृष्ण और भी कहा करते, "जन्म से ही इन्हें चैतन्य प्राप्त है, लोकशिक्षा के लिए ही शरीर-धारण करते हैं।"[१५] श्रीरामकृष्ण समझाते कि उन लोगों की आध्यात्मिक साधनाओं का मूल यह जानने में है कि मैं (श्रीरामकृष्ण) कौन हूँ, वे कौन हैं और मुझसे उनका क्या सम्बन्ध है।[१६]

१३. स्वामी? मिस्टर दयामाता, : Sri Ramakrishna and His Disciples', पृ. ६३।

१४. 'म' : वही, भा० २, पृ. २०५।

१५. 'म' : वही, भा० १, पृ. २१६।

१६. 'म' : वही, भा० २, पृ. १७३।

श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग युवा शिष्यों में निरंजन ने अपनी बलिष्ठ देह, आध्यात्मिक लगन, साहस, उत्साह, सेवा-तत्परता, सरलता और सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रवृत्ति के कारण एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन भावावस्था में निरंजन को छू दिया। इस स्पर्श से निरंजन को अद्भुत आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हुए। नेत्रों के सामने दिव्य ज्योति के दर्शन के कारण वह तीन दिनों तक अपने नेत्र बन्द नहीं कर सका। पवित्र मंत्र का वह अनवरत जाप करता रहा। श्रीरामकृष्ण ने निरंजन से विनोद करते हुए कहा, "अब तुझ पर भूत सवार हो गया है—दिव्य भूत। तू कितना भी हाथ-पैर मार, उससे छुटकारा नहीं मिल सकता।"[१७] वर्षों बाद (जुलाई १८८५ में) श्रीरामकृष्ण ने निरंजन के सम्बन्ध में कहा था, "उसे मैं देखता हूँ, एक ज्योति पर बैठा हुआ है।"[१८] बीच के अल्प समय को छोड़कर, जब निरंजन ने अपनी विधवा माँ के भरण-पोषण की व्यवस्था के लिए मुर्शिदाबाद में नील की खेती करनेवाले के यहाँ नौकरी की थी, निरंजन प्रायः सदैव श्रीरामकृष्ण के पास ही रहता। निरंजन के भीतर की आध्यात्मिक कली धीरे धीरे जैसे विभिन्न रंगों में खिलती गयी और सुवास बिखे-रने लगी, वैसे वैसे उसकी बाहरी अभिव्यक्तियाँ भी मजेदार रूप लेती गयीं।

जैसे जैसे दिन बीतते जा रहे थे, उस पर श्रीरामकृष्ण

---

१७. चट्टोपाध्याय : वही पृ. ४००।

१८. 'म' : वही, भा० ३, पृ. २१४।

की स्नेह-छाया उतनी ही गहरी होती जा रही थी। और एक दिन निरंजन ने श्रीरामकृष्ण के पास स्वीकार किया, "जी, पहले प्यार ही था, परन्तु अब आपको छोड़कर नहीं रहा जाता।"[१९] श्रीरामकृष्ण और निरंजन के इस अलौकिक सम्बन्ध को चित्रित करने की कोई चेष्टा श्रीरामकृष्ण के अद्भुत स्वभाव को ही उजागर करती है। इस सम्बन्ध ने धीरे धीरे शिष्य के जीवन में नये मार्गों को खोल दिया, जिससे वह अपने गुरु के महान् सन्देशों के प्रचार के लिए उपयुक्त यंत्र बन सके।

निरंजन अपने अन्य गुरुभाइयों के ही समान अपने गुरुदेव की अपने ढंग से सेवा किया करते। उनकी महासमाधि के उपरान्त स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में वे उसी उत्साह से कार्य करते रहे। संन्यास-दीक्षा के बाद उनका अभिधेय हुआ स्वामी निरंजनानन्द। जीवन के अन्तिम दिनों में वे कनखल (हरिद्वार) में थे, जहाँ ९ मई, १९०४ (२७ वैशाख, १३११ बंगाब्द [२०]) को हैजे से आक्रान्त हो उन्होंने देहत्याग किया।

●

१९. 'म' : वही, भा० ३, पृ. ४३५।

२०. उद्बोधन, वर्ष ६, अंक ११, पृ. ३४६।

विभीषण-शरणागति (७।२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'विभीषण-शरणागति' पर सात प्रवचनों की एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। यह सातवाँ प्रवचन कुछ लम्बा होने के कारण 'विवेक-ज्योति' के तीन अंकों में प्रकाशित किया जायगा। प्रस्तुत लेख सातवें प्रवचन की दूसरी-तिहाई है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। --स०)

गोस्वामीजी एक सुन्दर बात कहते हैं। विश्वामित्र ने योगबल से जान लिया था कि अयोध्या में महाराज श्री दशरथ के यहाँ ईश्वर का अवतार हो गया है। वे राक्षसों को मारने के लिए ईश्वर को लेने अयोध्या जाते हैं। जब वे राम और लक्ष्मण को ले अपने आश्रम की ओर लौटते हैं, तो रास्ते में श्रीराम एक छोटे बालक के समान इस प्रकार आचरण करते हैं कि विश्वामित्र उनके ईश्वरत्व को भूल जाते हैं। भगवान् राम के चरित्र का

सबसे गौरवपूर्ण पक्ष यही है कि वे अपने गुणों का प्रदर्शन नहीं करते। जब वे मुनि विश्वामित्र के साथ चले तो उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा नहीं की कि मैं ईश्वर हूँ, भगवान् हूँ, सर्वशक्तिमान् हूँ। वे तो एक विद्यार्थी के रूप में, एक पुत्र के रूप में मुनि के साथ चलते हैं, क्योंकि चलते समय महाराज दशरथ ने विश्वामित्र से कहा था—

मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥ १।२०७।१०

—'हे नाथ, ये दोनों पुत्र मेरे प्राण हैं। हे मुनि, अब आप ही इनके पिता हैं, दूसरा कोई नहीं।' जव दशरथ ने यह बात कही थी, तो सुनकर मुनि को हँसी आ गयी थी—यह सोचकर कि राजन्, क्या मैं भी तुम्हारी तरह अज्ञानी बन इन्हें पुत्र मान लूँगा? मैं तो साक्षात् ईश्वर को अपने साथ ले जा रहा हूँ, किसी बालक को नहीं। ऐसा विचार कर जब मुनि हँसे थे, तब प्रभु भी मन ही मन मुसकरा पड़े थे कि मुनिराज, देखना, कहीं तुम भी मुझे पुत्र न मान बैठना। और जब प्रभु लक्ष्मण समेत मुनि के साथ चले जा रहे हैं, तो मुनि से पूछ बैठते हैं—इस वृक्ष का क्या नाम? इसे क्या कहते हैं? जंगल में पक्षी का बोलना सुनकर उसकी नकल करते हैं, पूछते हैं—यह कौनसा पक्षी है? मतलब यह कि प्रभु ने चपल बालक के समान ऐसा आचरण किया कि मुनि का सारा ज्ञान तिरोहित हो गया और वे श्री राम को एक नन्हे बालक के रूप में देखने लगे। गोस्वामीजी 'गीतावली' (बालकाण्ड) में लिखते हैं कि जव रास्ते में तालाब में खिले कमल देख

श्री राम उन्हें तोड़ने पानी में उतरे, तो मुनि घबरा गये कि कहीं वे डूब न जाएँ—

पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि चितवत
खग-मृग-बन-रुचिराई ।
सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि
पुनि-पुनि लेत बुलाई ।।५।।

—'जब दोनों भाई सरोवरों में घुसते तथा शिलाओं पर चढ़कर पक्षी, मृग और वन की सुन्दरता निहारते हैं, तब मुनिवर भययुक्त और प्रेमपुलकित हो उन्हें आदरपूर्वक बारम्बार बुला लेते हैं।' मुनि को डर लगता है कि कहीं वे गिर न पड़ें। मुनि को ब्रह्म के डूबने का, गिरने का भय होने लगता है ! उनका श्री राम के प्रति ईश्वरत्व-बोध लुप्त हो जाता है। ऐसे समय ताड़का आती है और सारा दृश्य परिवर्तित हो जाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

चले जात मुनि दीन्हि देखाई ।
सुनि ताड़का क्रोध करि धाई ।।
एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा ।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।।१।२०८।५-६

—श्री राम अब बालक नहीं दिखायी दे रहे हैं। वे धनुष पर बाण चढ़ाते हैं और एक ही बाण में ताड़का के प्राण हर लेते हैं तथा उसे दीन जानकर अपना धाम दे देते हैं। यह श्री राम के चरित्र का बहुत बड़ा पक्ष है। वे गुणों को तभी स्वीकार करते हैं, जब उन्हें कोई कार्य करना होता है। इसीलिए गुण उन्हें बाँध नहीं पाते। गुणों से मुक्त

होने का यही मार्ग है। जब क्रिया करनी हो, तो उतने समय तक के लिए गुणों को स्वीकारो और क्रिया हो जाने पर गुणों को अलग कर दो। जो सदा के लिए गुणों को ओढ़े रहता है, वह गुणों के बन्धन में बँध जाता है। परशुराम के साथ यही हुआ। वे सगुण होकर सगुण ही रहे, जबकि श्री राम सगुण होकर निर्गुण हो गये। विश्वामित्र बालक राम का यह पक्ष देख चकित हो गये। वे अब तक बालक राम के माधुर्य में डूबे हुए थे और अब राम का ईश्वरत्व उन्हें विस्मित कर देता है। वे भगवान् राम को पहचान लेते हैं और उन्हें समस्त विद्या का भण्डार समझते हुए भी विद्या प्रदान करते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥ १।२०८।७

यह विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। यदि वे राम को राजकुमार समझकर विद्या देते, तो बात सार्थक थी, पर 'बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही' का क्या तात्पर्य? यह तो वैसा ही हुआ, जैसे भरे पेटवाले को भोजन देना। प्रश्न यह है कि विद्या किसी विद्याहीन को दी जानी चाहिए या विद्यानिधि को? भोजन भूखे को दिया जाना चाहिए या भरे पेटवाले को? तर्क तो यही कहता है कि विद्याहीन को विद्या दो। और विश्वामित्र ने जीवन भर यही किया। उन्होंने जिन-जिनको विद्या दी, उनके पास विद्या नहीं थी और विश्वामित्र ने उन्हें विद्या दे उनकी अविद्या दूर की। पर आज वे विद्यानिधि को विद्या कैसे दे रहे हैं?

विश्वामित्र को लगा कि मैंने अविद्वानों को विद्या दे उनकी अपूर्णता दूर की है, पर मेरी विद्या की पूर्णता कैसे हो? दृष्टान्त के रूप में हम नदी को ले लें। नदी की कितनी उपयोगिता है। वह बहती चली जा रही है। लोग उसके तीर पर स्नान कर रहे हैं। दूसरे लोग सिंचाई कर रहे हैं। अनेकों की प्यास उसके जल से बुझ रही है। नदी अनगिनत सेवा करती है। यह सब करते हुए भी वह समुद्र की ओर जा रही है। अब प्रश्न किया जा सकता है कि नदी को रेगिस्तान की ओर जाना चाहिए या समुद्र की ओर? यदि ये नदियाँ सागर की ओर न जा राजस्थान की ओर जाएँ, तो कितनी बड़ी सेवा होगी। जलनिधि के पास जल ले जाने का क्या तात्पर्य? पर नहीं, नदी समझती है कि सबकी सेवा करते हुए भी उसके जीवन की समग्रता समुद्र में समा जाने में है। नदी से यदि कोई कहे कि तुम कितनी सेवा करती हो, कितनी कृपामयी हो कि गाँव गाँव आकर सबकी प्यास बुझाती हो, लोगों के खेतों की सिंचाई करती हो, और ऐसा कहते हुए वह तरह तरह से नदी के गुण गावे, तो नदी यही तो कहेगी कि हम तुम्हारे गाँव तक आने के लिए थोड़े ही बह रहे हैं, हम तो समुद्र की ओर जा रहे थे कि बीच में तुम्हारा गाँव पड़ गया; हमारा उद्देश्य समुद्र तक पहुँचना है, तुम्हारी सेवा करना नहीं। नदी के द्वारा इतनी सेवा होती है, पर थोड़ा भी अभिमान नहीं है। इस प्रकार नदी में सेवा और समग्रता एक साथ दिखायी देती हैं। गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि जीव नदी के समान है—

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई ।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥ ४।१३।८

—जैसे नदी का जल समुद्र में आकर स्थिर हो जाता है, वैसे ही जीव ईश्वर को पाकर अचल हो जाता है, यानी उसे आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। अतः जीव की सार्थकता इसमें है कि वह ईश्वर को प्राप्त कर ले। मुख्य बात यह नहीं है कि वह दूसरों की कितनी सेवा करता है, मुख्य बात है ईश्वर की प्राप्ति। यदि वह ईश्वर को स्वीकार किये बिना सेवा करता है तो उसमें सेवा का अभिमान उत्पन्न होगा। जो सच्चे अर्थों में साधक है, वह ईश्वर की प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर चलेगा और उसके द्वारा जो सेवा होगी, वह दूसरों की आँखों में भले ही दिखायी देगी, लेकिन स्वयं उसे नहीं। उसे तो यही लगेगा कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह भले ही दूसरों को बड़े बड़े सेवा-कार्यों के रूप में दिखे, पर मैं तो वस्तुतः अपने जीवन की पूर्णता के लिए ऐसा कर रहा हूँ, किसी दूसरे पर उपकार करने के लिए नहीं। सच्चा साधक अपनी साधना की समग्रता ईश्वर से मिलित होने में देखता है।

तो, आज विश्वामित्र को लगा कि अब तक दूसरे लोग मुझसे विद्या पाकर धन्य होते रहे, पर स्वयं मेरी यह विद्या तब धन्य होगी, जब विद्यानिधि ईश्वर को अर्पित हो जावे। इसीलिए 'विद्यानिधि कहुँ विद्या दीन्ही'—वे विद्या के भण्डार ईश्वर को विद्या प्रदान करते हैं, अपनी

विद्या की नदी को विद्या के सागर में मिला देते हैं और इस प्रकार अपने जीवन में पूर्णता की उपलब्धि करते हैं।

जब गोस्वामीजी से पूछा गया कि आप रामायण क्यों लिख रहे हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया—'स्वान्तः सुखाय' (१।०।छ७)—'अपने अन्तःकरण के सुख के लिए'। आजकल यह शब्द बड़ा प्रचलित हो गया है। जो लोग आलोचना से बचना चाहते हैं, वे कह देते हैं कि मैं 'स्वान्तःसुखाय' लिख रहा हूँ या कह रहा हूँ, तुम्हें आलोचना करने की क्या आवश्यकता? यह लोगों का मुँह बन्द करने का अच्छा उपाय है। पर गोस्वामीजी जब यह कहते हैं, तब उनका तात्पर्य यह है कि भले ही दूसरे लोग इससे लाभ उठा लें, पर हम तो ईश्वर को समर्पित करने के लिए ही यह लिख रहे हैं। यही गोस्वामीजी का जीवन-दर्शन है। भले ही दूसरे लोग इस कृति के द्वारा विविध प्रकार से उपकृत हो रहे हों और वे उसे गोस्वामीजी द्वारा की गयी महान् सेवा के रूप में देखते हों, पर स्वयं गोस्वामीजी के भीतर इस सेवा का लेशमात्र भी अहंकार नहीं है। उन्होंने 'बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्हो' के द्वारा यही दर्शन प्रस्तुत किया है।

तो, विभीषण का जीवन भी तब पूर्ण होता है, जब वे आकर अपने को भगवान् राम के चरणों में समर्पित कर देते हैं। विभीषण जीव हैं और भगवान् राम साक्षात् ब्रह्म। यह जीव और ब्रह्म के मिलन की गाथा है। जैसे सरिता पर्वत से निकलती है, मैदानों को पार करती है और टेढी-मेढ़ी बहती हुई अन्त में जाकर समुद्र में मिल

जाती है, वैसे ही जीव को भी कठिनाइयों से भरे साधना के मार्ग से जाना होता है। जैसे नदी दो किनारों के बीच से बहती है, वैसे ही साधक को भी दो किनारों के बीच से होकर चलना पड़ता है—**'लोक बेद मत मंजुल कूला'** (१।३८।१२)—वे दो सुन्दर किनारे हैं लोकमत और वेदमत। जैसे नदी गाँवों के बीच होकर बहती है, वैसे ही साधक को संसार के बीच से होकर चलना पड़ता है। जैसे नदी दोनों किनारों का स्पर्श करते हुए भी कहीं रुकती नहीं, वैसे ही साधक को भी कहीं रुकना नहीं चाहिए, उसे लोकमत और वेदमत के माध्यम से अपनी साधना को निरन्तर गतिशील रख आगे बढ़ते रहना चाहिए, जब तक कि वह ईश्वर-समुद्र में जाकर मिल नहीं जाता। और तब न तो वेद का किनारा रह जाता है, न लोक का—न नाम रह जाता है, न रूप।

हम विभीषण के जीवन पर इस दृष्टि से विचार करें। उनका जीवन प्रारम्भ में तपस्या का जीवन है। जब ब्रह्मा और शंकर वरदान देने आते हैं, तो वे भक्ति का वरदान माँगते हैं। तत्पश्चात् वे लंका में रहकर यथासाध्य जप करते हैं, मन्दिर में पूजा-आराधना करते हैं। पर उनके जीवन में कुछ दुर्बलताएँ बनी हुई हैं, जिनके कारण वे भगवान् राम से दूर रहते हैं। पर जब उन्हें इन दुर्बलताओं का बोध होता है, तब वे उनका त्याग कर प्रभु से मिलने चल पड़ते हैं। विभीषण का सौभाग्य यह है कि वे अपने प्रारम्भिक जीवन से जीवन के अन्तिम लक्ष्य के प्रति सजग हैं। अधिकांश लोग जीवन में अपने लक्ष्य के प्रति ही

निश्चित नहीं हैं, इसलिए उन्हें अनेक भटकावों में से गुजरना पड़ता है। विभीषण की लक्ष्य के प्रति सजगता उनके वरदान माँगने से प्रकट होती है। जब ब्रह्मा और महेश विभीषण से वरदान माँगने को कहते हैं, तो विभीषण ईश्वर के चरणों में विमल भक्ति का वरदान माँगते हैं—

गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर मागु।
तेहिं मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु ॥ १।१७७

इससे विभीषण की धारणा का पता चलता है। वे ईश्वर के चरणों को प्राप्त करना ही जीवन का अन्तिम उद्देश्य मानते हैं। पर बीच में बहुत सी बातें आ गयीं, जिनके कारण वे अपने अन्तिम लक्ष्य को मानो बिसर-से गये। रावण के चरण-प्रहार ने उनके भीतर के सुप्त विवेक को झकझोर दिया और उन्हें श्री राम के चरणों में जाने की याद दिला दी। उन्हें होश आया तो लगा कि अरे, मैं तो भगवान् के चरणों में जाना चाहता था, मैं यहाँ कहाँ रुका पड़ा हूँ? और तब वे भगवान् की ओर अग्रसर होते हैं। राक्षसों को छोड़ देते हैं, लंका का त्याग कर देते हैं और चार सौ कोस के समुद्र का पार कर ईश्वर के चरणों में पहुँच जाते हैं। अब इसके प्रतीकात्मक अर्थ पर विचार करें। राक्षस हैं दुर्गुण और समुद्र है देहाभिमान का। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में लिखते हैं—

कुणप-अभिमान सागर भयंकर घोर,
विपुल अवगाह, दुस्तर अपारं। ५८।५

—'देहाभिमान अत्यन्त भयंकर, अथाह, अपार, दुस्तर

समुद्र है।' तात्पर्य यह कि विभीषण दुर्गुणों को छोड़, देहाभिमान को पार कर प्रभु के चरणों में पहुँच जाते हैं। इस देहाभिमान को, देह के नातों को गोस्वामीजी ने दुस्तर समुद्र कहा। देह के प्रति व्यक्ति की कितनी आसक्ति होती है, देह के सम्बन्धों के प्रति कितना राग होता है। इस आसक्ति को क्या कोई इतनी सरलता से पार कर सकता है ?

मुझे याद आता है, एक बार हमारे परिचित एक वयोवृद्ध सज्जन हमारे यहाँ आये। बड़े श्रद्धालु व्यक्ति थे। मुझसे बहुधा कहा करते--कोई अच्छे सन्त बताइए। उन्हें दो-चार अच्छे सन्तों के पास भेजा गया। इस बार पुनः वे हमारे पास आकर कहने लगे कि कोई सन्त हा तो बताइए। उस समय हमारे पास एक सज्जन बैठे थे, जो थोड़ा विनोदी थे। उन्होंने एक ऐसे सज्जन का नाम बताया, जो पाँच बार संन्यास लेकर फिर घर में आ गये थे। जब भी घर में झगड़ा होता, सब छोड़-छाड़कर चले जाते, कुछ समय बाद फिर लौट आते। तो, वयोवृद्ध सज्जन से हमारे विनोदी मित्र ने कहा कि उनके पास चले जाइए। वे उनकी बात मान उनके पास गये और वहाँ से बहुत प्रसन्न होते हुए लौटे। मैंने पूछा—"कैसा रहा ?" वे बोले--"भई, बड़ा आनन्द आया।" विनोदी सज्जन ने पूछा—"आप उनकी पूरी जीवनकथा जानते हैं ? वे पाँच बार घर छोड़कर गये और लौट आये।" वृद्ध बोले—"कितनी बड़ी बात है ! वे पाँच बार घर छोड़कर गये तो। हम तो एक बार भी नहीं जा पाये। उनमें कम से कम इतना साहस तो है

कि वे घर छोड़कर महीने भर के लिए चले गये। हम इतना सत्संग करते हैं, इतनी कथा सुनते हैं, फिर भी हमारे मन में साहस नहीं होता।" वृद्ध सज्जन की ऐसी मनोवृत्ति देख मुझे बहुत अच्छा लगा। सचमुच देह की आसक्ति को, देह के सम्बन्धों को छोड़ना आसान नहीं है। मुँह से कहना सरल है। इस देहाभिमान के सागर को पार करने में बड़े-बड़े लोग असमर्थ हो जाते हैं।

सीताजी की खोज करते करते बन्दर समुद्र के किनारे पहुँच गये। सम्पाती मिला, जिसने कहा—

जो नाघइ सत जोजन सागर।
करइ सो राम काज मति आगर ।।४।२८।१

—'जो सौ योजन समुद्र लाँघ सकेगा और बुद्धिनिधान होगा, वही श्री सीताजी के दर्शन कर सकेगा।' अब ये बन्दर कौन हैं? गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में लिखते हैं—

कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट विपुल ।५८।१५

—ये बन्दर कैवल्य के नाना प्रकार के साधन हैं। वे भगवान् श्री राम के पास से इतनी दूर यात्रा करके आये हैं, बड़े सद्‌गुणसम्पन्न हैं, त्यागी और धीर हैं, तितिक्षासम्पन्न और संयमी हैं, और अब सागर के पास आकर रुक गये हैं। वे समुद्र को देखकर निराश हो जाते हैं। तब भगवान् की कृपा से सम्पाती नाम के सन्त का सत्संग उन्हें मिलता है, जो बताता है—समुद्र के उस पार वह देखो लंकानगरी दिखायी दे रही है, उसके बीच अशोकवाटिका है और

अशोकवाटिका में सीताजी बैठी हुई हैं। बन्दरों को कुछ नहीं दिखायी देता। तब सम्पाती कहता है—

मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार ।४।२८

—मैं उन्हें देख रहा हूँ, तुम नहीं देख सकते; क्योंकि गीध की दृष्टि अपार होती है, बहुत दूर तक जाती है। तब तो बन्दरों को सम्पाती से कह देना चाहिए था कि महाराज, जब आप सीताजी को देख पा रहे हैं, तो आप ही जाकर सीताजी का समाचार ला दीजिए, हमें फिर जाने की क्या आवश्यकता है ? जैसे हम सन्त-महापुरुषों से कहा करते हैं कि महाराज, आप ही हमारे लिए कर दीजिए न। हमारी वृत्ति यह है कि दूसरे लोग हमारे लिए कर दें, हमें कुछ न करना पड़े। तो, सम्पाती ने बन्दरों को बढ़िया उत्तर दिया—

बूढ़ भयउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार ।।४।२८

—'मेरा शरीर बूढ़ा हो गया है, नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता करता।' अब महापुरुष तो कथा सुनाकर चले गये और श्रोता आपस में विचार करने लगे। श्रोता बड़े अद्भुत थे। आज भी तो बड़े अद्भुत श्रोता होते हैं। वे पूरी कथा को नहीं स्वीकार करते, कथा का जो भाग अपने उपयुक्त लगता है, मात्र उतना ही ग्रहण करते हैं और शेष छोड़ देते हैं। यहाँ भी श्रोताओं ने यही किया। उन्होंने कथा के तीन भाग कर दिये और एक एक भाग अपने प्रयोजन के अनुसार ले लिया। सम्पाती के कथा कहकर चले जाने के बाद बन्दर विचार करने लगे कि समुद्र को पार करके लंका कौन जायगा ? सभी अपनी अपनी कमी का वर्णन करने

लगे और अपने समुद्र-पार करने में संशय प्रकट करने लगे—

निज निज बल सब काहूँ भाषा।
पार जाइ कर संसय राखा॥४।२८।६

कथाकार ने तो सभी को समुद्र के पार जा सकने की प्रेरणा दी थी, पर व्याख्याकार श्रोताओं ने अपने ढंग से कथा की व्याख्या की। उन्होंने कहा कि सम्पाती ऐसा कह गया है—'जो नाघइ सत जोजन सागर'—जो इस सौ योजन समुद्र को लाँघेगा। इसका मतलब यह कि सभी नहीं लाँघ पाएँगे, कोई एक ही लाँघेगा और वह एक मैं नहीं हूँ! कथा का यह एक-तिहाई हिस्सा बन्दरों ने लिया। जाम्बवान् ने कथा का दूसरा-तिहाई हिस्सा लिया; वे बोले—'जरठ भयउँ' (४।२८।७)—मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ। कथा-वाचक ने भी कहा था—'बूढ़ भयउँ न त करतेउँ'। जब वे बूढ़ा होने के कारण नहीं कर पाये, तो मैं भी तो बूढ़ा हो गया हूँ, मैं कैसे कर पाऊँगा?—यह जाम्बवान् की दलील थी। कथा का तीसरा-तिहाई भाग अंगद ने लिया। वे बोले—

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा।
जियँ संसय कछु फिरती बारा॥४।२९।१

—मैं पार तो चला जाऊँगा, पर लौटकर आ पाऊँगा या नहीं इसमें संशय है। किसी ने अंगदजी से पूछा—"यह कथा आपने कहाँ से प्राप्त की?" "क्यों," वे बोले, "क्या सम्पाती ने नहीं सुनाया था कि वे सूर्य तक गये तो उनके

पंख जल गये और वे बेचारे नीचे गिर पड़े ? मैं नहीं चाहता कि ऐसा दुस्साहस करूँ, जिससे अन्त में मेरी दुर्गति हो।"

तो, इस प्रकार सभी ने तिहाई तिहाई कथा सुन ली और उसका यही अर्थ लिया कि हमें समुद्र पार करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। बन्दरों में गुण तो बहुत थे, पर देहाभिमान भी सत्य था। हनुमान्जी ही अकेले ऐसे थे, जिन्होंने पूरी कथा सुनी और जो समुद्र को लाँघकर पार कर गये। बन्दरों में एकमात्र वे ही ऐसे हैं, जिन्हें देहाभिमान छू तक नहीं गया है। बाकी बन्दर गुणवान् होते हुए भी देहाभिमान से ग्रस्त हैं। गुण देह से ही तो सम्बन्धित होते हैं। गुणों के द्वारा व्यक्ति समाज में सम्मान पा सकता है, सफलता प्राप्त कर सकता है, लेकिन भक्ति की प्राप्ति के लिए तो देहाभिमान के समुद्र को पार करना होगा। और यह हनुमान्जी करते हैं, वे देहाभिमान के ऊपर से चले जाते हैं। तभी तो जब रावण ने उनसे पूछा कि तुम कौन हो, तो उत्तर में उन्होंने कहा—मैं श्री राम का दूत हूँ। यदि उनमें देहाभिमान होता, तो वे कह सकते थे कि मैं पवनदेवता का पुत्र हूँ। पर उन्होंने देह की दृष्टि से उत्तर नहीं दिया, बल्कि ऐसा उत्तर दिया, जो भाव की, अध्यात्म की दृष्टि से सत्य था। इस बात की पुष्टि भी हनुमान्जी की क्रिया से हो जाती है। जब वे आकाशमार्ग से जाने लगे, तो समुद्र ने मैनाक पर्वत से कहा—तुम्हारे मित्र का पुत्र जा रहा है, जाओ उसका स्वागत करो। मैनाक हनुमान्जी के पास जाकर बोला—तुम हमारे मित्र के पुत्र हो,

हमारा स्वागत स्वीकार करो। यह देहाभिमान की परीक्षा थी। हनुमान्‌जी ऐसा सोच सकते थे कि मैनाक पिता के मित्र हैं, अतः पिता के समान ही सम्माननीय हैं, तब उनकी आज्ञा कैसे टालें ? पर हनुमान्‌जी इस परीक्षा में खरे उतरते हैं। उन्होंने न तो देह को स्वीकार किया, न देह के सम्बन्धों को। वे मैनाक से विनयपूर्ण वाणी में कहते हैं—

राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ।५।१

—राम-काज किये बिना मुझे विश्राम कहाँ ? अर्थात् हनुमान्‌जी भक्ति की ओर देखते हैं और देहाभिमान से मुक्त हो आगे बढ़ते हैं। तात्पर्य यह है कि देहाभिमान से ऊपर उठे बिना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता—चाहे कोई इधर से उधर पार करे यानी भगवान् के पास से भक्ति के पास जाय, चाहे उधर से इधर आए यानी भक्ति के पास से भगवान् के पास आए। ये दो यात्राएँ हैं। इधर से पार करके हनुमान्‌जी जाते हैं और उधर से पार करके विभीषणजी आते हैं। यह अलग बात है कि इनमें अधिक गौरव किसका है। वैसे तो हनुमान्‌जी का गौरव प्रसिद्ध ही है, लेकिन हनुमान्‌जी विभीषण की बड़ी सराहना करते हैं। कहते हैं—उधर से पार आना बड़ा कठिन था, इधर से पार करना तो सरल है; क्योंकि इधर से पार जाने के लिए तो भगवान् की प्रेरणा और शक्ति प्राप्त थी, जबकि उधर से आने में रावण के इतने बड़े बड़े अवरोध थे। रावण की सेना और दुर्ग को पार करना, दुर्गुणों को पार करके चले

आना, निकट सम्बन्धियों के स्नेह-पाश को काटकर चले आना कोई साधारण बात नहीं थी। तभी तो भगवान् राम भी विभीषण की बड़ी प्रशंसा करते हैं। हमने विभीषण की, उनकी दुर्बलताओं के लिए, आलोचना भी की है, पर भगवान् राम ने उनसे सदा यही कहा कि तुम कितने महान् हो, जो आसक्ति के केन्द्रों को छोड़कर चले आये। प्रभु उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब के ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं।
हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें।
धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥ ५।४७।४-८

—'माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र और परिवार इन सबके ममत्वरूपी तागों को बटोरकर और उन सबकी एक डोरी बटकर उसके द्वारा जो अपने मन को मेरे चरणों में बाँध लेता है, अर्थात् सारे सांसारिक सम्बन्धों का केन्द्र मुझे बना लेता है, जो समदर्शी है, जिसे कुछ इच्छा नहीं है और जिसके मन में हर्ष, शोक और भय नहीं है, ऐसा सज्जन मेरे हृदय में कैसे बसता है, जैसे लोभी के हृदय में धन बसा करता है। तुम-सरीखे सन्त ही

मुझे प्रिय हैं। मैं और किसी के निहोरे से देह धारण नहीं करता।'

आगे चलकर जब भगवान् राम ने विभीषण को 'लंकेश' कहकर पुकारा और कहा कि तुममें उपर्युक्त सारे गुण हैं—

सुनु लंकेस सकल गुन तोरें।
तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें ॥५।४८।१

—तो विभीषणजी को कुछ संकोच लगा। संकोच का कारण यह था कि विभीषण को लगा कि अवश्य मेरे मन में लंका के राज्य की वासना आ गयी है और प्रभु ने उसे भाँप लिया है। जब विभीषण लंका से चले थे, तब उनके मन में रावण के अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की भावना थी, वे प्रभु की प्राप्ति के लिए चले थे। चलते समय उनके मन में विचार आया था कि क्या प्रभु मुझे स्वीकार करेंगे ? उन्हें लगा कि प्रभु तो बड़े कृपालु हैं, उन्होंने औरों को जब स्वीकार किया है, तब मुझे भी अवश्य ग्रहण करेंगे और अपनी शरण में लेंगे। उनके सामने सुग्रीव का स्पष्ट उदाहरण था। वे मन ही मन अपनी और सुग्रीव की तुलना करने लगे। सुग्रीव भी अपने भाई के द्वारा निष्कासित था और मैं भी भाई के द्वारा निष्कासित हूँ। फिर, प्रभु ने सुग्रीव को अपनी शरण में ले बालि का वध किया। तब वे मुझे भी अपनी शरण में लेने के बाद रावण का वध करेंगे। जब बुद्धि ने इतनी दूर तुलना कर ली, तो भीतर की वासना ने धीरे से कहा—देखो, बालि को मारकर प्रभु ने राज्य सुग्रीव को दे दिया, तो तुम्हें भी रावण की मृत्यु के पश्चात् लंका का

राज्य मिल सकता है! एक क्षण के लिए विभीषण के अन्तःकरण में वासना की यह वल्लरी कौंध गयी और जब वे प्रभु के पास पहुँचे और प्रभु ने उन्हें 'लंकेश' कहकर पुकारा ('कहु लंकेस'—५।४५।४), तो विभीषण को लगा कि चोरी पकड़ ली गयी। वे सफाई देने लगे—

उर कछु प्रथम बासना रही।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥५।४८।६

—प्रभो, मैं छिपाऊँगा नहीं। मेरे मन में सचमुच वासना आ गयी थी, पर आपके चरणों के दर्शन के बाद अब वह आपके चरणों की प्रीतिरूपी नदी में बह गयी है। अब मेरे मन में राज्य की कोई अभिलाषा नहीं है।

पर भगवान् राम विभीषण की इस छिपी वासना को नहीं देखते, वे तो उनका महत् त्याग ही देखते हैं और उनके त्याग की प्रशंसा करते हैं। कहते हैं—"विभीषण, तुम्हारे मन में लंका के राज्य की कोई वासना नहीं है। यदि होती, तो तुम लंका छोड़कर मेरे पास क्यों आते? वहाँ तो तुम राजा की तरह ही रह रहे थे। तुमने मेरे लिए लंका का राज्य त्याग दिया, सारे सम्बन्धों का परित्याग कर दिया, गृह-सम्पत्ति का आकर्षण छोड़ दिया और सबसे बड़ी बात तो यह है कि तुमने मेरे लिए इतना बड़ा कलंक ले लिया, अपकीर्ति ले ली। मैं तो कहूँगा कि तुम सन्त हो।" विभीषण पूछ सकते हैं—"प्रभो, तब आप स्वयं होकर मुझे लंका का राज्य क्यों दे रहे हैं, जब आपको लगता है कि मेरी इच्छाएँ मिट गयी हैं?" प्रभु उत्तर में

कहेंगे—"विभीषण, तुम तो निष्काम हो गये, पर मैं अभी निष्काम नहीं हुआ हूँ। मैं तुम्हें लंका का राज्य इसलिए दे रहा हूँ कि मेरा यश बना रहे—

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।

मोर दरसु अमोघ जग माहीं ।।५।४८।६

—जगत् में मेरा दर्शन अमोघ है। मेरे इस यश को बचाये रखने के लिए तुम लंका का राज्य स्वीकार कर लो।" भगवान् राम विभीषण को एक त्यागी के रूप में ही देखते हैं। ईश्वर बड़े उदार हैं। वे भी यदि साधक को उतनी ही कड़ी दृष्टि से देखने लगें, जितनी कड़ी दृष्टि से वह स्वयं आत्मनिरीक्षण करता है, तब तो उसके जीवन में ईश्वरोपलब्धि कभी भी सम्भव न होगी। इसीलिए ईश्वर साधक की ओर उदार दृष्टि से देखते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि साधक भी अपनी ओर उदार दृष्टि से देखे, उसे तो अपनी दृष्टि से अपनी दीनता देखनी चाहिए। विभीषण अपनी दीनता ही देखते हैं, यद्यपि भगवान् श्री राघवेन्द्र उनके गुणों का ही दर्शन करते हैं। और सचमुच यह कोई साधारण बात नहीं है कि वे इतने अवरोधों को पार कर भगवान् राम के पास पहुँचते हैं। भले ही उनमें दुर्बलताएँ हैं, पर वे छिपकर श्री राम के पास नहीं आते, वे रावण की सभा में घोषित करते हैं कि मैं रघुवीर की शरण में जा रहा हूँ। वे कितना बड़ा खतरा ऐसी घोषणा कर मोल लेते हैं। सम्भव था कि रावण उन्हें कारागार में डाल देता अथवा मृत्युदण्ड दे देता। पर वे सारे भय को त्यागकर ईश्वर की शरण जाने के लिए निकल पड़ते हैं और

सरलता से विशाल समुद्र को पार कर भगवान् राम की सेना के पास पहुँच जाते हैं। अब वहाँ उन्हें कुछ समय के लिए रुकना पड़ता है। ऐसा क्यों ? दुर्गुणों और देहाभिमान के सागर को पार करके भी साधक को क्यों रुकना पड़ा ? बन्दर विभीषण को भगवान् राम के पास नहीं जाने देते। यह साधना का दूसरा पक्ष है, जो गोस्वामीजी प्रकट करते हैं।

पहले राक्षसों का, पाप का अवरोध था; अब बन्दरों का, पुण्य का अवरोध आता है। ये बन्दर गोस्वामीजी की भाषा में विभिन्न साधन हैं, यानी पुण्य हैं। जैसे ईश्वर के मार्ग में पाप बाधक होते हैं, वैसे ही पुण्य भी। बन्दरों ने विभीषण से परिचय पूछा, तो उन्होंने कहा कि मैं रावण का छोटा भाई हूँ और प्रभु के दर्शन करना चाहता हूँ। बन्दरों ने उन्हें रोक दिया और कहा कि आप ऐसे नहीं जा सकते, और एक बन्दर ने सुग्रीव के कान में सूचना दे दी कि रावण का भाई आया हुआ है। जब भगवान् राम ने दोनों का संवाद सुना, तो सुग्रीव से पूछा—क्या समाचार है ? सुग्रीव बोले—'आवा मिलन दसानन भाई' (२।४२।४)। प्रभु ने कहा—इसमें पूछने की क्या बात है ? आया है तो आने दो ('कह प्रभु सखा बूझिऐ कहा'—२।४२।५)। सुग्रीव बोले—नहीं, पहले मेरी बात सुनिए—

कहइ कपीस सुनहु नरनाहा।२।४२।५

यहाँ पर गोस्वामीजी की शब्द-योजना दर्शनीय है। वे लिखते हैं—बन्दरों के राजा (कपीश) ने कहा कि हे मनुष्यों के राजा (नरनाहा), सुनिए ! इसका अभिप्राय क्या ? यही

कि सुग्रीव के भीतर अपने राजा होने का भाव स्फुरित होता है और वे मानो कटाक्ष के स्वर में भगवान् राम को बता देना चाहते हैं कि यदि आप मनुष्यों के राजा हैं, तो मैं भी बन्दरों का राजा हूँ, अतः विभीषण के सन्दर्भ में मेरा भी मत कुछ मायने रखता है। "तुम्हारा क्या मत है ?"—प्रभु पूछते हैं। "आप जो कुछ कह रहे हैं, वह नीति की दृष्टि से संगत नहीं है। क्या दशानन के भाई को शरण में लिया जाना चाहिए ?"—सुग्रीव उत्तर में कहते हैं।

इस विभीषण-शरणागति के प्रसंग में साधना और भगवत्कृपा का व्यापक विवेचन किया गया है। संक्षेप में इसकी चर्चा करें। हमारे जो मान्य दार्शनिक और नैतिक ग्रन्थ हैं, उनमें एक ओर ईश्वर के न्याय की चर्चा है तो दूसरी ओर ईश्वर की कृपा की। इन दोनों में परस्पर टकराहट-सी दिखायी देती है। यदि यह कहें कि ईश्वर बड़े कृपालु हैं और यदि उनकी कृपा का चित्र खींचें, तो ऐसा लगता है कि व्यक्ति कर्म करने से विरत हो जायगा। और दूसरी ओर यदि ईश्वर के न्याय का, कर्म की परम्परा का वर्णन करें, तो व्यक्ति के जीवन में निराशा आ जायगी, वह सोचने लगेगा कि जब जीवन में कर्मजनित इतनी बाध्यताएँ हैं, तब ईश्वर की क्या आवश्यकता ? ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि साधना और कृपा में महत्त्वपूर्ण पक्ष कौनसा है ? इन दोनों पक्षों के विवाद के सन्दर्भ में गोस्वामीजी शरणागति का समन्वयात्मक पक्ष हमारे सामने रखते हैं। एक पक्ष है सुग्रीव का और दूसरा है

हनुमान्‌जी का। दोनों के मध्य में हैं ईश्वर। ईश्वर सबके हैं— भक्त के भी और नीतिशास्त्री के भी। नीतिशास्त्री कहते हैं कि ईश्वर कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करते हैं—

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ २।२१८।४

और भक्त कहते हैं कि ईश्वर तो अहैतुक कृपासिन्धु हैं और बिना कारण के कृपा करते हैं—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।१।२११

सुग्रीव यदि कर्मसिद्धान्त, न्यायसिद्धान्त के पक्षधर हैं, तो हनुमान्‌जी कृपासिद्धान्त के। सुग्रीव का तर्क यह है कि विभीषण रावण का भाई है; अतः रावण ने आज तक जो भी अन्याय किया, क्या विभीषण उसका भागीदार नहीं है ? भले ही विभीषण ने पाप न किया हो, पर वह रावण के पाप को चुपचाप देखता रहा, अतः उसे भी रावण के पाप में भागीदार मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में यदि वह आज आपकी शरण में आया है, तो क्या उस पर विश्वास किया जाना चाहिए और उसे शरण में लिया जाना चाहिए ? सुग्रीव नीतिशास्त्र, स्मृतिशास्त्र और धर्मशास्त्र का हवाला देते हुए अपना मत व्यक्त करते हुए कह देते हैं कि यदि आप मेरी राय पूछें तो विभीषण शरण में लेने योग्य नहीं है, उसे तो कारागार में डाल देना चाहिए। सुग्रीव मानो कर्म-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं।

दूसरी ओर हनुमान्‌जी हैं, जो कृपाशास्त्र का पक्ष लेते हैं। अब यहाँ पर व्यंग्य यह है कि जो सबसे कर्मठ है,

वह तो कृपा का पक्ष ले रहा है और जो सबसे दुर्बल है, वह कर्म का। कभी कभी गोस्वामीजी बड़ा विचित्र व्यंय करते हैं। अगर हनुमान्जी ऐसा कहें कि पुण्यात्मा का पक्ष लेना चाहिए और पापी को दण्ड देना चाहिए, तो बात समझ में आती है, पर बालि का भाई यह कहे कि रावण के भाई को शरण में मत लीजिए, तो बात कुछ समझ में नहीं आती। अब आप ही विचार कीजिए, जिस तर्क के बल पर सुग्रीव विभीषण को शरण में लेने से मना करते हैं, उसी तर्क के आधार पर वे स्वयं भी शरण में लेने योग्य नहीं हैं। यदि भगवान् राम स्पष्टभाषी होते तो कह देते कि यदि बालि का भाई शरण में लिया जा सकता है, तो रावण का भाई भी लिया जा सकता है। विडम्बना यह है कि दुर्बलचरित्र व्यक्ति के जीवन में बहुधा कठोरता दिखायी देती है, जबकि सन्त के जीवन में कोमलता। सुग्रीव के जीवन में दुर्बलता है, पर वे न्याय का पक्ष लेते हैं; भगवान् राम से कहते हैं कि विभीषण को बाँध रखना चाहिए। सुग्रीव सूर्य के पुत्र हैं, वे एक न्यायाधीश बन कहते हैं कि व्यक्ति को उसके कर्म का परिणाम प्राप्त होना चाहिए, अतः विभीषण पर दया नहीं की जानी चाहिए। दूसरी ओर हनुमान्जी हैं, जिनका चरित्र पराकाष्ठा तक शुद्ध है। वे उदारता का, कृपा का पक्ष लेते हैं। दोनों के बीच में हैं भगवान् राम। प्रभु समन्वयवादी हैं। उनका दृष्टिकोण यह है कि न्याय का सिद्धान्त और कृपा का सिद्धान्त—ये दोनों अपने अपने स्थान पर ठीक हैं। वैसे दुरुपयोग तो दोनों सिद्धान्तों का हो सकता है, और इसलिए उस प्रकार

के दुरुपयोग से बचने की चेष्टा करनी चाहिए, सिद्धान्त से बचने की नहीं।

आज ही एक सज्जन ने मुझसे प्रश्न किया कि यदि कृपा के सिद्धान्त का प्रचार किया जाय कि ईश्वर बड़े दयालु हैं, तो क्या सब लोग कर्म से विरत नहीं हो जाएँगे? जब हम यह प्रचारित करेंगे कि ईश्वर अकारण ही कृपा करता है, तो लोग यह न कहने लगेंगे कि फिर यह कर्म आदि सब करने की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में मैं यह स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि यह भय सर्वथा निर्मूल है। कृपा के सिद्धान्त की बात सुन-सुनकर लोग कर्म करना छोड़ देंगे ऐसा मैं नहीं मानता। लोग तो अपना काम करते ही रहेंगे। हाँ, कुछ लोगों को यह भय जरूर लगता है कि यदि लोग काम करना छोड़ देंगे, तो क्या होगा? ऐसा ही भय सुग्रीव के मन में भी था। पर दूसरी ओर क्या कर्मसिद्धान्त में भी भय नहीं है? नियम की कठोरता भी तो व्यक्ति को बुरा बना देती है। यदि दयालुता के द्वारा यह भय है कि व्यक्ति कहीं कर्म से विरत न हो जाय, तो नियम की कठोरता के द्वारा यह भय है कि कहीं वह व्यक्ति को और भी बुरा न बना दे। जैसे एक चोर है। वह जेल से सजा काटकर निकला है। वह नौकरी के लिए किसी के पास जाता है और अपना परिचय देते हुए कहता है कि मैं एक बरस जेल काटकर आया हूँ, तो उसे भला कौन नौकरी देगा? तब वह सोचता है कि मेरे लिए तो जेल का ही मार्ग खुला है। तो, विधान की कठोरता मनुष्य को कारागार में रख सकती है, उसे मुक्त

नहीं कर सकती । परिणाम यह होता है कि चोर बड़ा चोर बन जाता है और डाकू, बड़ा डाकू । इसका अभिप्राय यह है कि नियम की कठोरता के द्वारा भी दुष्परिणाम उत्पन्न हो सकता है । तो, जैसा हमने पूर्व में कहा, ये कृपा और न्याय के सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनका मनुष्य दुरुपयोग करना चाहे तो कर सकता है । उचित यह है कि इन दोनों के बीच का नियम पालना चाहिए । यह समन्वय भगवान् राम के जीवन में दिखायी देता है ।

सुग्रीव ने जब भगवान् राम से यह कहा कि विभीषण को बाँध रखना चाहिए, तो प्रभु तुरत कहते हैं— **'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी'** (५।४२।८)—मित्र, तुमने नीति की दृष्टि से ठीक ही बात कही है । तो क्या भगवान् राम ऐसा कहकर सुग्रीव की सलाह पर अमल करते हैं ? नहीं, वे तो समन्वय करते हुए एक वाक्य और जोड़ देते हैं, जिससे नीति का अतिरेक उनके अवतार लेने के उद्देश्य को ही कहीं अधूरा न रख दे । सुग्रीव की हाँ में हाँ मिलाते हुए उन्होंने कह दिया था—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी ।

पर उन्होंने तुरत एक वाक्य और जोड़ा—

मम पन सरनागत भयहारी ॥ ५।४२।८

—किन्तु मित्र सुग्रीव, मेरा प्रण तो शरणागत के भय को हर लेना है ।

यह भगवान् राम का समन्वय है । यदि ईश्वर केवल न्यायी हो और यदि वह जीव के कार्यों की ओर ध्यान दे, जीवों के प्रति न्याय करने के लिए बैठे, तब तो हममें

से अधिकांश कारागार के अधिकारी बनेंगे, पुरस्कार के नहीं। इसीलिए समाज में केवल न्यायालय होने से काम नहीं चलेगा, साथ में औषधालय भी होना चाहिए। रोगी पहले न्याय नहीं चाहता, दवा चाहता है। यदि कोई रोगी किसी चिकित्सक के पास जाय और चिकित्सक न्याय करने बैठ जाय कि तुमने कुपथ्य किया है, इसलिए पहले हम तुम्हें दण्ड देंगे, बाद में दवा, तो इससे तो बेचारा रोगी ही मर जायगा। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति भूल से रोगी बन गया है, तो उसे न्याय के माध्यम से नहीं, दया के माध्यम से ठीक करने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि पाप पाप है तो दण्ड देना चाहिए, पर यदि पाप भूल है तो दवा देनी चाहिए। ये दो दर्शन हैं। एक यह कि पाप पाप है, यानी पाप दुष्कर्म है। और दूसरा यह कि शरीर के अन्य रोगों की भाँति पाप भी एक रोग है। जो पाप को रोग नहीं मानता और पाप किये जाता है, वह तो दण्डनीय हो सकता है, पर जो पाप को रोग मान इसका उपचार कराना चाहता है, वह दण्ड का नहीं, कृपा का भागी होता है—यह भगवान् राम का समन्वयात्मक दर्शन है। इसीलिए वे सुग्रीव से कहते हैं कि मैं तो शरणागत का भय दूर करने के लिए ही आया हूँ। मेरा अवतरण जीव पर कृपा करने के लिए होता है, उसे उसके कर्मों का फल देने के लिए नहीं।

(क्रमशः)

●

श्रीरामकृष्ण-महिमा (२)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंग-भाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन बॉयेज होम, रहड़ा, पश्चिम बंगाल में कार्यरत हैं। —स०)

(गतांक से आगे)

श्रीरामकृष्ण गले के कष्ट के कारण प्रायः दस महीने से अन्न नहीं खा पाये हैं। सेवक लोग पानी-जैसी पतली चीज खाने को देते हैं। अब वह भी खा नहीं पाते हैं। मुँह में जो दिया जाता है, उसका अधिकांश ही मुंह से गिर जाता है, बहुत थोड़ा पेट में जा पाता है। इसीलिए सेवक लोग खाना अधिक परिमाण में बनाकर रखते हैं। आज कष्ट बढ़ गया है, नाममात्र को ही मुँह में गया है, सामने बर्तन में सब धरा पड़ा है।

दूसरी मंजिल के जिस कमरे में ठाकुर हैं, उसके दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द हैं। जहाँ उनकी शय्या है, वह बड़ी एकान्त जगह है। वहाँ रहने पर बगीचे में कौन आ जा रहा है जाना नहीं जा सकता। परन्तु भक्तवत्सल ठाकुर

जान गये हैं कि प्रबोध और पाठक दर्शनों के लिए आये हैं और उन्हें बड़ी भूख लगी है। ठाकुर ने तुरन्त ही एक सेवक से कहा, "देखो, जो दो लोग अभी ही नीचे आये हैं, उन्हें तुरन्त ही बुला लाओ।" वह सेवक आज्ञानुसार उन दोनों भाग्यवानों को लेकर ठाकुर के कमरे के दरवाजे पर पहुँचा ही था कि ठाकुर ने बारम्बार हाथ बढ़ा उन्हें पुकारकर कहा, "अरे, आओ आओ, मैं तुम लोगों के लिए खाना लेकर बैठा हूँ। तुम लोगों को बड़ी भूख लगी है न, लो, खाओ खाओ।" दोनों ने ठाकुर को प्रणाम कर उनकी चरणरज ली, फिर आनन्द में विभोर हो भरपेट महाप्रसाद पाया।

भक्तिमान् और हृदयमान् पाठको! यह दृश्य एक बार अपने हृदयपटल पर आँक कर देखिए। मेरी क्या बिसात जो कलम-स्याही द्वारा इस अपूर्व लीलाचित्र को आँक सकूँ? कैसी अद्भुत लीला है! नित्य की तुलना में लीला अत्यन्त सुन्दर है। जो मन-वाणी से परे हैं, पुरुषोत्तम हैं, सर्वज्ञ, सर्वमय सबके अन्दर विद्यमान पूर्णब्रह्मसनातन, अनादि, अनन्त और अखण्ड सच्चिदानन्द हैं, वे ही अपने मर्त्यलोक के रंगमंच काशीपुर के बगीचे में कतिपय भक्तों के साथ आज संसार की आँखों में परदा डालकर रामकृष्ण-लीला के अन्तिम अंश का अभिनय कर रहे हैं। दीनता, हीनता तथा जीव के कल्याण हेतु अपार करुणा ही उनके अंगों की साज-सज्जा है। शरीर जीर्ण-शीर्ण है, कंकाल मात्र रह गया है। मन और वाणी से परे होकर भी जीव को शिक्षा देने के लिए कि वे क्या हैं, ठीक उनके ही अनुरूप

समझा दे रहे हैं। केवल वेशमात्र ही दीन-दुखियों का है, किन्तु जो रत्नराशि इन्द्र के लिए दुर्लभ है, उसे अनायास ही ढेरों की तादाद में जिस किसी को भी दे दे रहे हैं। प्रबोध और पाठक को लेकर जो खेल आज उन्होंने किया, उसे सुनकर ऐसा कौन पत्थरदिल है जो न पिघले ? सोच देखिए इस दया की कोई तुलना अथवा उसका कोई परिमाण हो सकता है ? देख लीजिए वे सही सही पतितपावन हैं या नहीं ! जगदीश्वर को सर्वशक्तिमान् मानकर भी मनुष्य किस बुद्धि से अवतारवाद का विरोध करता है, यह मैं अपनी इस बुद्धि से समझ नहीं पाया—ऐसी बुद्धि को नमस्कार।

रामकृष्णदेव आनन्द की मूर्ति हैं। चाहे जैसा भी बद्ध जीव क्यों न हो, जितने समय उनके निकट रहता है, उतने समय तक आनन्द के सागर में तैरता रहता है और कभी डूबा रहता है। रामकृष्णदेव के ताप-निवारण की महिमा हमने हमेशा देखी है।

पाठक और प्रबोध ने बड़े आनन्द के साथ भरपेट प्रसाद ग्रहण किया। बाद में ठाकुर से विदा लेते समय उनकी आँखें भर आयीं, हाथ जोड़कर बोले, "ठाकुर, आपके चरणों में प्रेम-भक्ति बनी रहे।" ठाकुर चुप रहे और थोड़ा हँसे। उनका तो भुवनमुग्धकारी हँसमुख चेहरा था, जिसे देख व्यक्ति किसी जन्म में नहीं भुला सकता था; वही हँसमुख चेहरा उन्होंने दिखलाया। रास्ते भर वे लोग ठाकुर की चर्चा करते हुए घर लौटे। इनके कुछ दिनों बाद ही इन लोगों ने सुना कि ठाकुर अब लीलाधाम में नहीं रहे। सुनकर कुछ दिनों तक बड़े शोक-

सन्तप्त रहे, फिर शान्त हो गये।

रामकृष्णदेव की कृपा से उनका पूर्व स्वभाव बदलता गया, संसार-धर्म के प्रति लगाव हुआ, स्त्री-पुत्र के प्रति उत्तरदायित्व का भाव आया। नशाखोरी कम हो गयी। रामकृष्णदेव के सम्बन्ध में सुनने का अवसर मिलने पर वे बड़ा मन देकर सुनते हैं, ठाकुर के भक्तों को देखते ही बड़ी श्रद्धा-भक्ति करते हैं, ठाकुर के महोत्सव में सम्मिलित होते हैं, कई लोग एक साथ समवेत हो सम्मिलित स्वर में गीत-छन्दों द्वारा, वाद्यों की सहायता से, रामकृष्णदेव की लोला का गुणानुवाद और कीर्तन करते हैं। थियेटर के सज्जागृह में उन्होंने रामकृष्णदेव की फोटो बिठा रखी है, अभिनय के दिन उसे फूलों की माला से सजाते हैं। जितनी बार सज्जागृह से रंगमंच पर जाते हैं, उतनी बार ठाकुर को प्रणाम करते हैं। अभिनेत्रियों को ठाकुर के प्रति भक्ति करने को कहते हैं। बीच बीच में एक साथ मिलकर ठाकुर के गुणों की चर्चा करते हैं। क्रमशः उनमें ठाकुर के प्रति प्रम उदित हुआ।

इस तरह १२-१३ वर्ष व्यतीत हो गये। अब उन्हें लगा कि जिन ठाकुर को उन्होंने देखा है, जिनकी वे इतनी भक्ति करते हैं, वे कोई सोधेसादे ठाकुर नहीं हैं, कोई ऐसे-वैसे नहीं हैं, बल्कि उनकी महिमा ने देश-विदेश के लोगों को स्तम्भित कर दिया है, इँग्लैण्ड और अमेरिका आदि के बड़े बड़े स्थानों में रामकृष्ण के नाम की पताका फहरा रही है, साहबों और मेम साहबों के दल के दल ठाकुर के लीलास्थलों के दर्शनों के लिए आ रहे हैं, इँग्लैण्ड

के मूर्धन्य विद्वान् उनकी जीवनी लिख रहे हैं तथा उनके विषय में सार्थक चर्चा कर रहे हैं; ठाकुर के शिष्यगण विश्व विजयी हो चले हैं और मनुष्य जो नहीं कर सका वह सब कार्य वे कर रहे हैं। यह सब देख-सुनकर ठाकुर का लीला-चरित्र सुनने की इनकी बड़ी इच्छा हुई। एक दिन ठाकुर के शरणागत एक भक्त से भेंट होने पर उनसे कहा, "महाशय, ठाकुर के सम्बन्ध में आप हम लोगों को कुछ सुनाएँगे? उनके सम्बन्ध में सुनने की हम लोगों को बड़ी इच्छा हुई है।" थियेटर के लोगों के बीच रामकृष्णदेव के प्रति भक्ति-धारा प्रवाहित होते देख वे सज्जन इनके सामने रो पड़े और बोले, "देखो भाई, मैं मूर्ख हूँ, मैं रामकृष्णदेव की महती लीला का बखान भला कैसे कर सकता हूँ? फिर भी उन्होंने कृपा करके जो दिखलाया है, जो सुनवाया है अथवा जो जनवाया है, वह कहूँगा, तुम लोग पूछो।"

पाठक—आप लोग जो रामकृष्ण को भगवान् कहते हैं, वे क्या सचमुच में भगवान् हैं?

भक्त—तुम पहले एक बात का उत्तर दो, उसके बाद मैं कहूँगा। तुम भगवान् किनको कहते हो? तुम्हारे भगवान् का स्वरूप क्या है?

पाठक—भगवान् विराट् हैं, सर्वशक्तिमान् हैं। वे इच्छामात्र से सब कुछ कर सकते हैं। वे इस सृष्टि और संसार के स्वामी हैं, जैसे—राम भगवान्, कृष्ण भगवान्। मैं यही समझता हूँ।

भक्त—रामकृष्णदेव भी वही हैं।

पाठक—कैसे? हमारी समझ में तो कुछ नहीं आया।

आप समझा सकेंगे ? रामकृष्ण भगवान् हैं इसका प्रमाण क्या ?

भक्त—प्रमाण है रामकृष्ण-लीला का दर्शन और उनकी कृपा। जब भगवान् अवतार लेकर आते हैं तो उसका एक लक्षण है। वह क्या है जानते हो ? जिस देह में कोई लक्षण न मिले वह देहधारी ही भगवान् का अवतार है। अवतार में कोई भी लक्षण प्राप्त नहीं होता। अवतार उपलब्धि और प्रत्यक्ष का विषय है। उनके प्रत्यक्ष होने से ही ज्ञात हो जाता है कि वे लक्षणातीत हैं—यही उनका लक्षण है। मेरी यही धारणा है।

परमहंसदेव अवतार का एक लक्षण बताते थे। वह यह कि जिस देह में प्रेम-भक्ति की बाढ़ आ जाय, जो दिनरात ईश्वर के प्रेम में मतवाले हों, वही देहधारी ईश्वर के अवतार हैं। जब तक ईश्वर का दर्शन नहीं होता, तब तक यह लक्षण कोई समझ नहीं सकता।

वे और एक बात कहते थे कि अवतार मानो अजाने वृक्ष के समान होते हैं। एक प्रकार का वृक्ष होता है, जिसे अजाना वृक्ष कहते हैं, उसका तात्पर्य यह कि उसे कोई पहिचान नहीं पाया। फिर वे हाथ में अँधेरी लालटेन लिये पहरेदार की उपमा देकर कहते हैं कि ईश्वर को पहिचाना भी जा सकता है और देखा भी। पहरेदार रात में गली-गलियारे में गश्त देने के समय हाथ में एक लालटेन रखता है, जिसे 'अँधेरी लालटेन' कहते हैं। इस लालटेन की विशेषता यह है कि जिसके हाथ में यह रहता है, वह इससे सबको देख सकता है,

किन्तु उसे कोई देख नहीं पाता। पर यदि पहरेदार उस लालटेन को अपनी ओर घुमा ले, तो उसे देखा और पहिचाना भी जा सकता है। इसी प्रकार नरदेहधारी वे चैतन्यमय भगवान् जिस शक्ति से अपने को छिपाकर समस्त सृष्टि को, इस जीव-जगत् को देखते हैं, उसी चैतन्य-प्रकाश से यदि अपने आपको दिखा दें, तो मनुष्य उन्हें देख और जान पाएँगे। यहाँ पर तुम लोगों से एक बात कहता हूँ, सुना—अन्य अवतारों की तरह रामकृष्णदेव को पहिचानना बहुत कठिन है। उनमें रजोगुण का ऐश्वर्य रंच मात्र भी नहीं है, उनमें आदि से अन्त तक शुद्ध सत्त्व का ऐश्वर्य है। दीन भक्त के स्वरूप में सत्त्व के ऐश्वर्य को पहिचानना और पकड़ना बहुत कठिन है। यहाँ तो राक्षसों का वध और नाश भी नहीं है और न अघासुर, बकासुर, ताड़का, पूतना आदि का विनाश ही है। वह सब तो आँखों से देखकर और कानों से सुनकर कुछ समझ सकते हैं। पर यहाँ तो सत्त्व का ऐश्वर्य है, उसे इन आँखों और कानों द्वारा देखा या सुना नहीं जा सकता—उसके लिए स्वतन्त्र आँख-कान चाहिए। इस बार जानते हो क्या हुआ है? इस बार भगवान् के खजाने की रत्न-मणियाँ जो अथाह, अपार महासागर के जल के नीचे छिपाकर रखी गयी थीं, सब लुटा दी गयीं। रामकृष्णदेव ने स्वयं अपने शरीर के माध्यम से अगणित दुःसाध्य साधनों का मन्थन कर उन सब रत्न-मणियों को बाहर निकाल चने-मुरमुरे की भाँति संसार में बाँट दिया। रामकृष्णदेव ने अब तक मुझे जो दिखलाया और समझाया है, उससे भलीभाँति देख और

समझ पाया हूँ कि वे ही भगवान् हैं, भगवान् के अवतार हैं, जगत् के स्वामी और सर्वशक्तिमान् हैं। वे ही राम, वे ही कृष्ण, वे ही काली तथा वे ही अखण्ड सच्चिदानन्द हैं, जो मन-बुद्धि से परे और फिर मन-बुद्धि के गोचर हैं। हमारे-तुम्हारे लिए उनको जानने का सहज उपाय है—उनकी लीला का दर्शन करना।

पाठक—लीला का श्रवण ही तो किया जा सकता है। दर्शन भला कैसे किया जा सकता है ?

भक्त—जब तुम उस मार्ग पर एकाग्र चित्त से अग्रसर होंगे, तब स्वयं ही समझ सकोगे। इसका अर्थ क्या है जानते हो ? जैसे एक सुन्दरी के रूप का वर्णन सुनते सुनते एक भाव का उदय होता है और फिर उस भाव से हृदय में उस सुन्दरी का मानो चित्र अंकित हो जाता है, उसी प्रकार लीला-चरित सुनते सुनते लीला का भाव उत्पन्न होता है और बाद में उस भाव से लीला का चित्र अंकित होता है। वह चित्र देखने मात्र से समझ सकोगे कि जिनकी वह लीला है, वे कौन हैं।

पाठक—रामावतार और कृष्णावतार में कितनी आश्चर्यजनक घटनाएँ हैं ! जैसे—भारी धनुष हलका हो गया; शिला नारी बन गयी, गोवर्धन पर्वत उठ गया, कृष्ण काली हुए, पूतना मरी, कंस का वध हुआ, गीता का गायन हुआ। और यहाँ पर क्या हुआ है ?

भक्त—इससे भी बहुत अधिक हुआ है। आज तक जितने अवतार हुए हैं, उन सबों ने मिलकर जो किया है, रामकृष्णदेव ने वह सब करके और भी कई नयी चीजें

की हैं, कुछ अधिक ही किया है। तुमने जिन अवतारों की बात कही है, उनका लीला-चरित तुमने सुना है, इसीलिए तुम उन्हें भगवान् कहकर विश्वास करते हो। रामकृष्ण की लीला सुनो, तब समझ सकोगे कि रामकृष्ण देव क्या हैं। तुम लोगों को जब राम और कृष्ण के प्रति विश्वास है, तब रामकृष्ण-लीला सहज ही में समझ सकोगे। जो एक अवतार को समझ सकते हैं वे सब अवतारों को ही समझ सकते हैं। जिसका एक में ही विश्वास न हो, उसका किसी में विश्वास नहीं हो सकता।

जिस प्रकार सागर की रत्नसम्पदा जल के ऊपर नहीं, जल के नीचे रहती है तथा अच्छी तरह गोता लगाने पर ही इन रत्नों को पाया जाता है, उसी प्रकार इस रामकृष्ण-लीला-समुद्र में डुबकी लगाओ, नाना प्रकार के रत्न पाओगे और उन्हें रत्नाकर के रूप में जान सकोगे।

पाठक—आपने जो कहा कि सभी अवतारों ने जो किया है, रामकृष्णदेव ने वह सब करके उसके अतिरिक्त और भी कुछ अधिक किया है, तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि रामकृष्णदेव अन्य अवतारों से श्रेष्ठ हैं?

भक्त—सभी अवतार वही एक भगवान् हैं। केवल उनके नाम और रूप अलग अलग हैं और लीलाएँ भिन्न हैं। जब जिस लीला की अथवा कार्य की आवश्यकता होती है, तब एक अवतार आकर वह कार्य कर जाते हैं। उनके प्रत्येक अवतार में सभी कार्य करने की क्षमता होती है,

पर सब कार्य करने की आवश्यकता नहीं होती।

तुम अपने थियेटर के उदाहरण से समझ सकते हो। जैसे तुम्हारे नाटक में विभिन्न चरित्रों का अभिनय है, किन्तु तुम केवल विदूषक के चरित्र का ही अभिनय करते हो। पर यदि तुम्हें राजा या शिव या गंगारक्षक अथवा अर्जुन के चरित्र का अभिनय करना पड़े तो क्या नहीं कर सकोगे ? कर सकोगे, पर यह आवश्यक नहीं होता। इसी प्रकार वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर जिस अवतार में जो आवश्यक होता है, उसमें वही करते हैं। इस रामकृष्ण-अवतार में समस्त आदर्श अवतारों का खेल दिखाना आवश्यक था, इसीलिए वह सब दिखलाया। भला उनके अवतारों में कोई छोटा-बड़ा होता है ?

पाठक—आपकी बातें तो बड़ी मजेदार लगती हैं। आप तो रामकृष्ण को भगवान् बता रहे हैं, पर हमने तो उन्हें बारह-तेरह वर्ष पहले देखा था, उनका स्पर्श किया था, किन्तु कहाँ, उससे तो कुछ नहीं हुआ !

भक्त—उनके दर्शन करने से कुछ नहीं हुआ—ऐसी बात मन में कभी नहीं लानी चाहिए। तुम लोगों का बहुत कुछ हुआ है, पर बात यह है कि तुम समझ नहीं पा रहे हो। सहजता से दुर्लभ वस्तु मिल जाने पर उसका मूल्य आँकना नहीं हो पाता, मनुष्य तो जान भी नहीं पाता। तुम लोगों का क्या हुआ है, सुनना चाहते हो ? तुम लोग संसार-बन्धन से मुक्त हो गये हो; फिर तुम पर उनकी कृपा हुई है, रामकृष्णदेव की महती लीला सुनने

के लिए लालायित हुए हो और सबसे सार बात तो यह है कि उनके स्वरूप को जानने के लिए बेचैन हुए हो। इससे बढ़कर मनुष्य का भाग्य भला क्या हो सकता है ? मानव-जीवन का प्रमुख उद्देश्य है—भगवत्कथा का श्रवण और भगवद्दर्शन। मनुष्य कामिनी-कांचन का गुलाम है, काम-कांचन के लिए लालायित है। तुम लोग भी ठीक वही थे। आज जिस कर्म के फलस्वरूप भगवान् के पादपद्मों में अनुरक्त हुए हो, वह कर्म ही रामकृष्ण का दर्शन है।

पाठक—हम लोगों ने बारह-तेरह वर्ष पूर्व रामकृष्ण देव के दर्शन किये थे, पर जैसी अब उनकी बातें सुनने की, उनकी मूर्ति को फूलों से सजाने की इच्छा होती है, वैसी इतने दिनों तक क्यों नहीं हुई ?

भक्त—इसके उत्तर में रामकृष्णदेव कहते थे—एक घर के छज्जे पर बीज पड़ा हुआ था। अनेक वर्षों बाद कालान्तर में घर भूमिसात् हो गया। तब वह बीज हवा-पानी पाकर अंकुरित हो उठा। तुम लोगों की भी वही बात है। अब समय हुआ है। फल तो समय आने पर ही होगा।

पाठक—आपकी बात सुनकर हमें बहुत आशा और विश्वास बँध रहा है और मन-प्राण शीतल हो रहे हैं।

भक्त—यह मेरी बात नहीं, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब जगद्गुरु रामकृष्णदेव की वाणी है, मेरे मुँह से निकल मात्र रही है। छत पर शेर का मुँह बना होता है। पानी गिरने से लोग कहते हैं कि शेर के मुंह से पानी गिर रहा है, पर वह शेर के मुंह का पानी नहीं है, वह तो आकाश

का पानी है। उसी प्रकार मेरी अपनी कोई बात नहीं, कोई शक्ति, कोई बुद्धि नहीं—सब उनकी है।

रामकृष्णदेव का एक नाम है—अभयदाता। उस नाम की महिमा से तुम लोगों में आशा और विश्वास की वृद्धि हो रही है। रामकृष्णदेव आनन्दमय हैं। उनकी लीला के वर्णन में आनन्द का स्रोत प्रवाहित होता है, इसीलिए तुम लोगों को आनन्द हो रहा है। तुम लोग भाग्यवान् हो, जो तुमने उनका प्रत्यक्ष दर्शन पाया है, उनका स्पर्श किया है; जिनकी कोई तुलना नहीं, उनका महाप्रसाद प्राप्त किया है। तुम लोगों को तो उनकी लीला-कथा सुनकर आनन्द होगा ही। उनकी लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन का ऐसा महत्त्व है कि यदि अत्यन्त बद्ध जीव भी उसे सुने अथवा कीर्तन करे, तो वह भी आनन्द-सागर में गोते लगाएगा। संक्षेप में तुम लोगों से कहता हूँ, सुनो—संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो सरल हृदय से रामकृष्ण का नाम लेने से परम आनन्द को प्राप्त न हो। संसार में आज तक ऐसे पाप की सृष्टि नहीं हुई, जो एक बार सरल हृदय से रामकृष्ण का नाम लेने से तुरत ही भस्मीभूत न हुआ हो तथा अभी भी संसार में ऐसी त्रितापज्वाला की उत्पत्ति नहीं हुई, जो एक बार रामकृष्ण का नाम लेने से शान्त न हो!

(क्रमशः)

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.
(दो/४८, डाक-तार नगर, भोपाल)

(१) नासै रोग हरै सब पीड़ा

एक भिक्खु अतिसार से पीड़ित था। वह इस रोग से इतना अशक्त हो गया था कि उससे खुद की देखभाल भी नहीं हो सकती थी। कई बार तो वह बेसुध हो जाता और मक्खियाँ उसके शरीर पर भिनभिनाती रहतीं। बात जब बुद्धदेव को पता चली, तो वे शिष्य आनन्द के साथ उसे देखने उसकी कुटिया में गये। उन्होंने उससे पूछा, "भाई ! क्या तुम्हें कोई कष्ट है ?"

"हाँ ! भगवन् ! मुझे अतिसार है," भिक्खु ने उत्तर दिया।

"क्या तुम्हारी कोई परिचर्या नहीं करता ?"

"नहीं, भगवन् !"

"इसका क्या कारण है ?"

"मैं उनके किसी काम का नहीं हूँ, इसलिए शायद वे मेरी ओर ध्यान न देते होंगे।"

तब तथागत ने आनन्द से जल लाने के लिए कहा। उसके द्वारा जल-भरा कलश लाने पर उन्होंने जल से उसका सारा शरीर धोया। फिर उसे ठीक तरह से विस्तर पर लिटाया और वे वापस लौट गये।

उन्होंने आनन्द के द्वारा भिक्खुओं को बुलाया और उनसे पूछा, "क्या विहार में कोई रोगी है ?"

"हाँ, भगवन् ! है," एक भिक्खु ने उत्तर दिया।

"उसे क्या कष्ट है ?"

"उसे अतिसार है, भगवन् !"

"उसकी देखभाल कौन कर रहा है ?"

"कोई नहीं।"

"क्यों ?"

"वह किसी दूसरे का काम नहीं करता, इसलिए कोई भी उसके पास नहीं जाता।"

तथागत ने कहा, "भाइयो, तुम्हारा ऐसा सोचना बहुत गलत है। तुम्हारी देखभाल के लिए न तो तुम्हारी माता है, और न पिता। अपनी देखभाल तुम लोग आपस में ही कर सकते हो। अगर तुम लोग ऐसा नहीं करोगे, तो तुम्हारा दुख-दर्द दूर कैसे होगा ? एक दूसरे की शुश्रूषा करने से ही रोग और पीड़ा नष्ट होंगे। ध्यान रखो, जो मेरी शुश्रूषा और देखभाल करना चाहता है, उसे चाहिए कि वह पहले रोगी भाई की शुश्रूषा करे।"

(२) प्राणिनां देहमाश्रितः

सन्त ज्ञानेश्वर और उनके भाई-बहिन निवृत्ति, सोपान एवं मुक्ताबाई को बहिष्कृत किया देख एक सज्जन को दया आयी और वह उन्हें अपने साथ पैठण ले गया। उन्हें गाँव में आया देख लोग रुष्ट हो गये और उन्हें भला-बुरा कहने लगे। एक पण्डित ने ज्ञानदेव की हँसी उड़ाते

हुए कहा, "नाम इसका क्या है—ज्ञानदेव ? मगर ज्ञान दो कौड़ी का भी नहीं है।" इससे ज्ञानदेव के स्वाभिमान को ठेस पहुंची। उन्होंने आवेश में कहा, "मेरा ज्ञान क्या पूछते हो ? मुझे सारे विश्व का ज्ञान है, विश्व के समस्त रूपों में मैं समाया हुआ हूँ। आपके ही नहीं, हर जीवधारी के रूप में···।" "बस, बस ! बस, बस !"—पण्डित ने उनकी बात काटते हुए कहा, "बड़ा आया शेखी बघारनेवाला। देखता हूँ किन-किन रूपों में तू समाया हुआ है। वह सामने जो भैंसा दिखायी दे रहा है, शायद वह भी तेरा ही रूप है !"

"हाँ, हाँ ! मेरा ही रूप है"—ज्ञानदेव ने उत्तर दिया। तब वह पण्डित उस भैंसे के पास गया और उसने उसकी पीठ पर थप्पड़ मारा और ज्ञानदेव की ओर व्यंग्य से देखा। ज्ञानदेव ने तुरन्त अपनी पीठ उसकी ओर कर दी, और सब लोग यह देख चकित रह गये कि पण्डित की हथेली के निशान उनकी पीठ पर उभर आये थे।

किन्तु पण्डित पर इसका कोई असर न हुआ। वह बोला, "इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह तो जादू से भी हो सकता है। यदि तुम इस भैंसे के मुँह से वेदमन्त्र सुनवाओ, तो जानूँगा कि तुममें भी ज्ञान है।"

तब ज्ञानदेव भैंसे के पास गये और उसकी पीठ पर हाथ फेरकर उन्होंने कहा, "इस पण्डित की आज्ञा का पालन करो।" ज्योंही उन्होंने ऐसा कहा, भैंसे ने मनुष्यवाणी में गम्भीर स्वर में कहना शुरू किया—"अग्निमीले पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधारं···।"

यह देखते ही उपस्थित जन और भी आश्चर्यचकित रह गये। वह पण्डित और अन्य शास्त्री ज्ञानदेव के चरणों पर गिर पड़े और उन्होंने कहा, "ज्ञानदेव ! मान गये। तुम साक्षात् भगवान् हो। तुम जगत् का अवश्य कल्याण करोगे।"

(३) अँसुवन जल सींचि-सींचि

एक बार हज़रत मुहम्मद के पन्द्रह महीने के बच्चे का देहावसान हो गया। हज़रत को बेहद दुःख हुआ और वे उसकी लाश पर झुककर विलाप करने लगे। यह देख उनके एक सेवक अब्दुर्रहमान ने उनसे कहा, "आपने हमें तो शोक करने की मनाही की है। मगर आज तो आप खुद ही शोक कर रहे हैं !"

हज़रत ने जवाब दिया, "हमने चिल्लाने-चीखने, सिर कूटने और कपड़े फाड़ने की मनाही की है, क्योंकि यह शैतान का काम है। हमने रोने से मनाही नहीं की है। आँसू करुणा के चिह्न हैं और रोने या विलाप करने से वे आँखों से निकल आते हैं। आँसू हमारे दिल के घाव पर खुशबूदार मरहम का काम कर हमारे शोक को दूर करने में सहायक होते हैं। मनुष्य सत्य और शान्ति से तब तक दूर है, जब तक करुणा-रस में उसका हृदय पगा नहीं है। यह ऐसा द्रव्य है, जो देने से बढ़ता है और हमारे जीवन को सार्थक बनाने का काम करता है। इसलिए आँसुओं को रोकना नहीं चाहिए।"

(४) ज्ञानी तो नीडर भया

गुरु गोविन्दसिंहजी ने जब आनन्दपुर छोड़ा, तो

बराड़ कौम का एक सरदार—डल्ला—उनके पास आकर बोला, "गुरुसाहिब ! आपने मुझे खबर दी होती, तो मैं आपकी मदद करता।" गोविन्दसिंहजी ने कहा, "जैसा मालिक का हुक्म था, वैसा हुआ।"

इतने में एक सिक्ख वहाँ आया और उनके चरणों पर गिरकर उन्हें अपनी एक बन्दूक भेंट की। तब गुरुसाहिब ने डल्ला से कहा, "डल्ला, मैं इस बन्दूक की आजमाइश करना चाहता हूँ, कोई ऐसा व्यक्ति बतला, जिस पर मैं इसकी आजमाइश करूँ।" डल्ला बोला, "मैं कैसे बता सकता हूँ, साहिब ?" "हाँ, बात तो ठीक कहते हो," गुरुसाहिब ने कहा, "यदि तुम्हीं पर इसकी आजमाइश करें, तो कैसा रहेगा ?"

यह सुनते ही डल्ला को पसीना आ गया, बोला, "मगर मेरे तो छोटे छोटे बच्चे हैं। मेरे बाद उनका क्या होगा ?" गोविन्दसिंहजी ने कहा, "मगर अभी अभी तो तू कह रहा था कि तुझे खबर करता, तो तू मेरी मदद करता। क्या यही तेरी बहादुरी है ?" डल्ला से कोई जवाब न देते बना। तब वे उससे बोले, "अच्छा ! मेरे तबेले में जाकर कह कि मुझे इस बन्दूक की आजमाइश करनी है, इसलिए कोई सेवक यहाँ आए।"

सेवकों ने जब आदेश सुना, तो सारे के सारे उनके पास आ गये और हरएक ने खुद पर आजमाइश करने की इच्छा व्यक्त की। तब गुरुसाहिब डल्ला से बोले, "देखा, मेरे सारे के सारे शिष्य बहादुर हैं। इनके रहते भला मुझे किसी की मदद की क्या जरूरत ? मैं तो तेरा इम्तहान

ले रहा था कि तेरे कथन में कितनी सच्चाई है।" यह सुनते ही डल्ला ने माफी माँग ली।

(५) परुष बचन मत बोल रे

सन्त फ्रान्सिस का एक अनुयायी था, जिसका नाम था एंजिलो। उसे उन्होंने माँन्ते कसाले के स्थानक का संरक्षक नियुक्त किया था। एक बार इस स्थानक में तीन डाकू आये और उन्होंने एंजिलो से कहा कि वे भूखे हैं, इसलिए यदि कुछ खाने को मिले तो मेहरबानी होगी। एंजिलो ने उन्हें फटकारते हुए कहा, "ऐ दुष्टो, पापियो, तुम रोज दूसरों की पसीने की कमाई को लूटते हो, उसकी तुम्हें जरा भी शरम नहीं और आज तुम्हारी बेशर्मी की हद हो गयी कि यहाँ प्रभु के सेवकों को दिये जानेवाले भोजन की तुम माँग कर रहे हो। यहाँ का प्रसाद तो वही ग्रहण कर सकता है, जिसकी प्रभु पर श्रद्धा है। तुम्हें चूँकि उसके प्रति और उसके प्यारे बालकों के प्रति जरा भी प्रेम नहीं है, इसलिए तुम्हें यहाँ का प्रसाद नहीं दिया जा सकता।" यह सुन डाकू बेहद क्रुद्ध हुए, मगर पवित्र स्थान जान क्रोध पीकर चुपचाप वहाँ से चले गये।

थोड़ी ही देर बाद सन्त फ्रान्सिस आये। जब एंजिलो ने उन्हें सारी बात बतायी, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने एंजिलो से कहा, "तुमने यह अच्छा व्यवहार नहीं किया। जो पापी होते हैं, उन्हें उनकी भर्त्सना और घृणा करके सही रास्ते पर नहीं लाया जाता। उनके साथ नम्रता से पेश आना चाहिए। क्या तुम जानते नहीं कि

हकीम की जरूरत तन्दुरुस्तों को नहीं, बल्कि बीमारों को होती है। ये डाकू बीमार ही तो थे, तुम्हें उन्हें नम्रतारूपी भोजन देना था। जाओ, उन्हें ढूँढ़ो और ये रोटियाँ दे आओ।" डाकू अधिक दूर नहीं गये थे। एंजिलो ने उन्हें देखा, तो वह उनके चरणों पर गिर पड़ा। उसने अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगी और उन्हें रोटियाँ दीं। यह देख डाकू सोचने लगे, "हम रोज इतना पाप करते हैं, किन्तु इसके लिए हमें कोई खेद नहीं है और एक यह पुण्यात्मा है, जिसे थोड़ी देर पहले कहे हुए कठोर शब्दों का पश्चात्ताप हो रहा है। यही नहीं, यह तो हम भूखों की भूख को शान्त करना चाहता है।" वे तुरन्त स्थानक गये और उन्होंने सन्त फ्रान्सिस से पाप और दुराचार के लिए क्षमा माँगी। सन्त ने उनसे कहा, "तुम्हें पश्चात्ताप हो रहा है, इसलिए निश्चय ही प्रभु क्षमा करेंगे।" डाकुओं ने लोगों को लूटना बन्द कर दिया और वे सन्त फ्रान्सिस के शिष्य हो गये।

●

"गैसबत्ती शहर के विभिन्न भागों में विभिन्न रूप से जलती हैं, परन्तु सभी स्थानों में गैस एक ही आधार से आती है। इसी प्रकार, विभिन्न देशों में, विभिन्न समय पर, जो विभिन्न जातियों के धर्मप्रचारक प्रकट होकर दीपक की भाँति ज्ञानालोक प्रकाशित करते हैं, वे सभी एक ही परमेश्वर से आते हैं।"

—**श्रीरामकृष्ण**

जन्माष्टमी के अवसर पर विशेष लेख

लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

श्रीमती कृष्णभाविनी देवी
(द्वारा ए० के० मजुमदार, जगदलपुर, म०प्र०)

यदि सर्वकाल, सर्वदेश एवं सर्वजन के मध्य किसी सर्वोत्तम महामानव का चयन करना है, तब निःसन्दिग्ध रूप से कमलनयन, कमलनाभ, बृजबिहारी, मथुरेश, द्वारिकाधीश, पार्थसारथि, वासुदेव श्रीकृष्ण का नाम ही मन में उदित होता है।

प्रेम की पराकाष्ठा हैं ईश्वरपुत्र यीशु एवं श्री चैतन्य, ज्ञान के चरमोत्कर्ष हैं भगवान् श्री महावीर एवं बुद्ध, त्याग के परमोत्कर्ष हैं भगवान् श्री राम एवं अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के परम शिखर हैं मोहम्मद पैगम्बर। सर्वोपरि, सर्वधर्मसमन्वय के महासागर हैं भगवान् श्रीरामकृष्ण। परन्तु प्रेम, ज्ञान, त्याग, संग्राम एवं सर्वधर्म-समन्वय के उत्तुंग एवरेस्ट हैं वृन्दावनबिहारी यदुपति श्रीकृष्ण। वे असमोर्ध्व लीला-पुरुषोत्तम हैं, जिनसे उच्च अथवा सम कोई अवतारपुरुष दृष्टिगत नहीं होता। प्रेम में कुसुमादपि मृदु, कर्तव्य में वज्रादपि कठोर, ज्ञान में वेदान्त की परिसीमा एवं त्याग में महत्तम से भी महत् हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम का परिचय एवं करुणा की गाथा को श्रीमद्भागवतकार ने निम्नलिखित श्लोक द्वारा

गोष्पद में प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति भाव-गम्भीर भाषा में वर्णित किया है—

> अहो बकी यं स्तनकालकूटं
> जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
> लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
> कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥ ३।२।२३

—'आश्चर्य ! भगवान् की दयालुता का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। दुष्ट राक्षसी पूतना ने मारने की इच्छा से अपने स्तनों में कालकूट विष भरकर भगवान् को पिलाया। किन्तु भगवान् ने उसे माता की-सी उचित गति देते हुए अपना लोक दे दिया। विष देनेवाले को भी जो अमृत प्रदान करे ऐसा दयालु दूसरा देवता कौन है, जिसकी मैं शरण लूं ?'

ज्ञान एवं सर्वधर्मसमन्वय में आप अनन्य हैं—श्रीमद्भगवद्गीता ही इसका ज्वलन्त प्रमाण है। त्याग में आप एकक हैं। व्रज, मथुरा, कुरुक्षेत्र एवं द्वारिका की विराट् परिधिवाले कर्मक्षेत्र की एक युग की समस्त ग्लानि का आपने अपने स्कन्ध पर सभी कर्तव्यों का नितान्त निर्लिप्त भाव से वहन कर अपनोदन किया। अन्याय के विरुद्ध संग्राम के जीवन-व्रत का आपने पूर्णरूपेण पालन किया। श्रीमद्भगवद्गीता की निम्नोक्त बहुउद्धरित वाणी ही इसकी साक्ष्य है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। ४।७-८

—'हे भारत ! जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है, मैं अपने को अवतीर्ण करता हूँ। साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म के संस्थापन के लिए मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ।'

पद्मनाभ की श्रीमुख-निःसृत उल्लिखित वाणी से यही निष्कर्ष प्रतिपादित होता है कि श्रीकृष्ण के दो रूप हैं—प्रथम, लोकक्षयकृत् प्रवृद्ध महाकालः एवं द्वितीय, आर्तानाम् आर्तिहर, भीतानां भयहर, प्रपन्नानाम् अभ्युदय एवं निःश्रेयस्विधाता पुरुषोत्तमरूप। जो जन बहिर्मुखी इन्द्रियाराम होकर क्रमशः विश्वत्रास बनकर उभरते हैं, उनके लिए भगवान् आते हैं उग्र महाकाल-रूप में, एवं जो शान्त, दान्त, क्षान्त, अन्तर्मखी आत्माराम हैं, उनके निकट भगवान् आते हैं प्रेमास्पद दयित के रूप में, प्रेम का अमृतभाण्ड हाथों में लेकर, विषय-वासना से रिक्त उनके हृदय को निज हाथों से भरने के लिए।

'श्रीकृष्ण' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है महाप्रभाव-शक्ति द्वारा जो शत्रु-मित्र सबको अपने माधुर्य के प्रति आकर्षित करता है। कर्षणात् कृष्ण, रमणात् राम, व्यपनात् विष्णु। दूसरा अर्थ है—जो भक्तजन के मन को परमानन्द में मग्न कर देता है। तीसरा अर्थ है—'कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।' 'निर्वृति' शब्द का अर्थ है सुस्थित,

सुख एवं मोक्ष। 'भू' शब्द का अर्थ है सत्ता अर्थात् उत्पत्ति एवं विद्यमानता। जिनकी करुणा से जन्म, स्थिति, वृद्धि, श्री, विजय, भूति (कल्याण) एवं नीति प्राप्त होते हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जो सकाम भक्त हैं, उनको वे धर्म, अर्थ एवं समस्त काम्य वस्तु प्रदान करते हैं, परन्तु जो साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर, नित्यानित्य विवेक को पाकर, इस दुःखमय जगत् के 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनं' से मुक्त होकर 'तद्विष्णोः परमं पदं' को प्राप्त कर जन्म-जन्मान्तर की साधना-लब्ध दुर्लभ मानवयोनि में कृतकृत्य होना चाहते हैं, उन्हें वे स्वाधर्म्य प्रदान करते हैं। तब ब्रह्मवित् ब्रह्म ही हो जाता है। साधना के उत्तरण एवं कृपा के अवतरण से सीमा के साथ असीम का महामिलन हो जाता है। उस समय 'तस्मिन् दृष्टे परावरे', सुरलोक में शंखनाद होने लगता है, नरलोक में विजय-डण्का बजता है। अमावस्या की रात्रि के सभी दुर्गतोरण धूलिसात् हो जाते हैं। बहुजन्म-संचित पाप-पुण्य भस्मसात् होकर मानव तब जीवनमुक्त महामानव में परिणत हो जाता है। द्रष्टा भक्त कवि की अन्तर्वाणी तब सचमुच मूर्त हो जाती है—

शुधु तव धन कोरियाछि आश,
ताइ पोरियाछि एइ दीनवास,
मम संचित पाप पुण्य,
आज कोरियाछि सकलि शून्य,
(तुमि) निज हाते मोर हृदय भोरिबे ताइ तो रिक्त कोरिछिगो ॥

—'केवल तुम-सम्पत्ति को पाने की ही खातिर मैंने यह

दीन-हीन का वेश बनाया है। अपने संचित समस्त पाप-पुण्य को मैंने शून्य कर दिया है, और इसीलिए रिक्त किया है कि तुम अपने हाथों से मेरा यह रिक्त हृदय भर दोगे।'

श्री गोविन्द, गोपाल, केशव, माधव, वासुदेव, हरि, राधारमण इत्यादि श्रीकृष्ण के अनन्त नाम हैं। एक भक्त कवि ने कहा है, अनन्त कृष्णेर नाम अनन्त महिमा, ब्रह्मा आदि देव जारे दिते नारे सीमा' —अर्थात् कृष्ण के अनन्त नाम हैं और उनकी महिमा भी 'अनन्त है। ब्रह्मा आदि देवता उनकी सीमा नहीं बाँध पाते। गोपाल एवं गोविन्द का अर्थ है पृथ्वी का पालनकर्ता। केशव शब्द का अर्थ है क+ईश अर्थात् ब्रह्मा एवं महेश्वर को भी प्रलयकाल में आत्मसात् करके जो स्वकीय स्वरूप कारण-समुद्र में, अनन्त-शीर्ष नाग अर्थात् अनन्त जीव-समूहों के प्रसुप्त संस्कार-सलिल में, शयान रहते हैं। माधव अर्थात् लक्ष्मीपति—समस्त श्री एवं सम्पदा की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के भी अधीश्वर। वासुदेव अर्थात् जिनमें समग्र चराचर जगत् अवस्थित है। भक्त के समस्त अज्ञान एवं कलिकलुष को हरनेवाले श्री हरि हैं। श्री राधारमण स्वकीय अंगभूता आह्लादिनी शक्ति श्री राधारानी के संग नित्यलीला-विलास में निमग्न होकर अपने प्रेम-माधुर्य का आस्वादन करते हैं।

पूर्व में ही लिखा जा चुका है कि धर्मरक्षा एवं अधर्म का नाश ही श्री कृष्ण का व्रत है। द्वापर युग के अन्त में, आज से लगभग ५,२०० वर्ष पूर्व, रोहिणी

नक्षत्रखचित भाद्र कृष्णाष्टमी के निशीथ में, विश्वत्रास एवं अत्याचारी नृपति कंस के वध के लिए, उसके ही अन्ध कारागृह में, वन्दिनी माता देवकी के गर्भ से विश्वकल्याण (त्राण) हेतु धराधाम में उनका आविर्भाव हुआ। जब समस्त मानवजाति विवेकशून्य होकर बहिर्मुखी इन्द्रियों के वशीभूत हो भोग को ही योग समझ स्वेच्छाचारी हो जाती है एवं समग्र जगत् मकड़ी के समान स्वनिर्मित जाल में फँसकर परित्राण के लिए व्याकुल होकर छटपटाता है, तब अपने वचन की रक्षा एवं स्वाभाविक कृपा से, भक्तिरूपिणी माता देवकी एवं ज्ञानरूपी पिता वासुदेव की प्रार्थना से, शुद्ध सत्त्वमय हृदय में उद्धारकर्ता श्री वासुदेव का महा आविर्भाव होता है। घन तमिस्रावसान पर, सूर्योदय के अरुण प्रभात में उनके प्रेम-स्निग्ध शिशिर से नवजीवन का पुनः शुभारम्भ होता है।

श्रीकृष्ण की तीन लीलाभूमियाँ हैं—व्रज, मथुरा एवं द्वारिका। व्रजलीला हेमन्त के स्निग्ध शिशिर के समान मधुर एवं प्रेममय है। मथुरालीला नव वसन्त सम मधुर एवं ऐश्वर्यमय है। द्वारिकालीला तो सम्पूर्णतः ऐश्वर्य से दीप्तिमान है। मधुरता ही सर्वश्रेष्ठ ईश्वरीय गुण है। अतः रसिक भक्तों ने उनकी व्रजलीला को ही श्रेष्ठ माना है। व्रजलीला में पूतना-वध, तृणावर्त-संहार, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर एवं व्योमासुर का निधन, कालीयदमन, प्रलम्बासुर-बध, चीरहरण, गिरिगोवर्धन-धारण, महेन्द्रगर्व-संहार एवं श्रीमहारासलीला—इन सबके द्वारा उनकी असीम शूरता एवं अपूर्व मधुरता का निदर्शन है। इनमें से चीरहरण

एवं श्रीरासलीला अविज्ञ, अशास्त्रज्ञ, असत्त्वदर्शी एवं अरसिक भोगवादी नास्तिकों द्वारा बहुचर्चित एवं विनिन्दित होते जा रहे हैं।

चीरहरण-लीला के विषय में अधिक चर्चा न करते हुए मात्र यह विचार ही पर्याप्त है कि चीरहृता गोपियाँ कुमारिका एवं दारिका थीं, जिसका शब्दकोष-अनुयायी अर्थ पाँच वर्ष से लेकर आठ वर्ष तक की कन्याओं से है। श्रीकृष्ण की आयु भी तब छः वर्ष एक माह ही थी, जो कि श्रीमद्भागवत की गिरिगोवर्धन-लीला के अन्तर्गत १०।२६।३ श्लोक की 'यः सप्तहायनो बालः' उक्ति से स्पष्ट हो जाता है। गिरिगोवर्धन-लीला के ११ माह पूर्व चीरहरण-लीला हुई थी। प्रथमतः, विकृतमस्तिष्क एवं विवेकशून्य व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी इस वय के कुमार एवं कुमारियों के मध्य किसी प्रकार की दूषित भावना की कल्पना भी नहीं कर सकता है। द्वितीयतः, यह स्नान ब्राह्म-मुहूर्त में होता है, जबकि निकटवर्ती वस्तुएँ भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं। तृतीयतः, तैत्तिरीय ब्राह्मण के— 'एतद्वै पत्न्यै व्रतापनयनम्, अप्सु वै वरुणः' इन मंत्रों से ज्ञात होता है कि वरुणदेव जल में निवास करते हैं। अतः सलिल में नग्नस्नान निषिद्ध है। परन्तु इसी प्रकार का निषिद्ध आचरण वर्षों से व्रज-कुमारियाँ पुनः पुनः करती आ रही थीं, जो कि 'वासांसि निक्षिप्य तीरे पूर्ववत्' (१०।२२।७) में आये 'पूर्ववत्' शब्द से स्पष्ट हो जाता है। धर्मस्य गोप्ता श्रीकृष्ण के लिए इन कुमारियों को इस अधर्म से निवृत्त करना एक कर्तव्य था। चतुर्थतः, कुमारियों के

निकट वे अपने साथियों के साथ गये थे एवं वृक्ष पर चढ़कर ही उन्होंने कुमारियों को जल से निकलने के लिए कहा था। यदि उनके मन में कोई दुरभिसन्धि होती, तो वे निस्सन्देह साथियों को साथ लेकर न आते अथवा यथाशीघ्र वृक्षारोहण भी न करते।

श्रीमद्भागवत के श्र.ता महाराज परीक्षित के मन में चोरहरण-लीला के विषय में यद्यपि कोई सन्देह नहीं उठा, परन्तु श्रीरासलीला के सम्बन्ध में संशय का मेघ अवश्य उठा। श्रीरासलीला-श्रवण के उपरान्त आश्चर्य-श्रोता राजर्षि परीक्षित कुशल-वक्ता ब्रह्मर्षि श्रीशुकदेवजी से प्रश्न करते हैं—"समस्त जगत् के नियन्ता धर्म की संस्थापना एवं अधर्म के प्रशमन के लिए धराधाम पर अवतीर्ण होते हैं। स्वयं धर्म-मर्यादा के प्रवक्ता, कर्ता एवं रक्षक होते हुए भी किस अभिप्राय से उन्होंने परदार-अभिमर्षण-जैसा विपरीत एवं घृणित आचरण किया है ?" लगता है संशयाकुल मनुष्यों के सन्देह का पहले से अनुमान लगाकर श्रीमद्भागवतकार ने इस प्रश्न को सम्मुख रखा है, क्योंकि श्रीरासलीला में व्रजांगनाओं के साथ बाहुप्रसार द्वारा आलिंगन, हस्तपद, केश, नीवी (कटि), स्तनादि का स्पर्शन, नखाग्रघात द्वारा विविध कामक्रीड़ा, कटाक्ष एवं हास्य-कौतुक द्वारा कामोद्दीपन का नानाविध वर्णन है। श्रीमुख में परस्पर चर्वित ताम्बूल-विनिमय, गण्ड से गण्ड का मिलन, पीन कुचयुगल द्वारा प्रगाढ़ आलिंगन इत्यादि कामशास्त्र में वर्णित, एकमात्र साक्षात् समागम को छोड़कर, प्रायः सर्वप्रकार की कामकेलि का वर्णन आया है।

स्वभावतः, इन्द्रियाराम बहिर्मुखी मनुष्य की दृष्टि में इस प्रकार का आचरण श्रीकृष्ण के चरित्र पर दुरपनेय कलंक का लेपन करता है। आजन्म संन्यासी ब्रह्मर्षि श्री शुकदेव ने अतिसुन्दर युक्तियों के द्वारा इस सन्देह का निराकरण किया है। देह की परतन्त्रता से रहित तेजस्वियों का धर्म-व्यतिक्रम कदापि दोषावह नहीं होता, जैसे कि अग्नि द्वारा सर्वभक्षण कदापि निन्दा का विषय नहीं बनता। भगवान् शंकर को छोड़कर अन्य कोई यदि विषपान करता है, तो वह नीलकण्ठ नहीं बन जाता, वरन् अचिरात् मरण को प्राप्त करता है। ऐसे ही, अवतार-पुरुषों को छोड़कर अन्य कोई यदि उनकी दुर्लंघ्य लीलाओं का अनुकरण करता है, तो वह तत्काल पथभ्रष्ट हो निन्दा का पात्र बन जाता है। सब प्रकार से महापुरुषों की वाणी ही अनुकरणीय होती है, उनके आचरण नहीं। द्वितीयतः, तत्त्वदर्शी भक्तों के मत में श्री भगवान् की प्रतिज्ञा यह है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—अर्थात् 'जो जिस भाव से मेरी भक्ति करता है, उसी रूप में उसका प्रत्युत्तर देता हूँ।' प्रेममयी व्रजांगनाएँ भुवनमोहन नटराज श्रीकृष्ण के अति सुन्दर रूप को देखकर कामभाव से उद्दीप्त हो उन्हें पतिरूप में वरण करने की इच्छा हृदय में रखती थीं। अतः भक्तवत्सल रसराज श्रीकृष्ण ने कृष्णभाविनी गोपियों के मनोरथ पर चढ़कर श्रीरासनृत्य किया, जिसमें कामराज मन्मथ के मन को भी मथकर 'साक्षात् मन्मथ-मन्मथ' नाम से जगत् में विख्यात हुए। पार्वतीजी की प्रार्थना से वही मदन ध्यानमग्न श्री शंकरजी को भले ही

कामबाण से विद्ध नहीं कर सका, परन्तु क्रोध का संचार करने में अवश्य समर्थ हुआ। किन्तु रसराज श्रीकृष्ण ने रजोगुण से उद्भूत काम और क्रोध इन दोनों दुर्जय रिपुओं को भी सम्पूर्णतः वशीभूत करके 'आत्मनि अवरुद्धसौरतः' (१०।३३।२६) होकर परम सुन्दरी, युवती, लास्यमयी, हावभावविभूषिता व्रजांगनाओं सहित पूरी रात्रि महा-रासलीला की थी। अन्य कोई होता तो उसकी दशा क्या होती, उसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसीलिए तो इस सम्पूर्ण कामजय का विजय-डण्का आज भी मदन-मोहन नाम से सारे जगत् में निनादित होता आ रहा है।

निस्सन्देह, अन्य कोई होता तो अशेष-हावभाव-धीर-हीर-हार-भूषिता अगणित युवतियों के कामस्रोत में बहकर धर्मभ्रष्ट हो जाता। श्रीकृष्ण भी बह गये थे, किन्तु दूसरे अर्थ में। श्रीरासनृत्य की उत्ताल मृदंग-तरंग से बचने के लिए वे भी गोपियों के कटितट एवं भुजदण्ड को धारण करने हेतु बाध्य हुए थे। इसका अर्थ अतीव गूढ़ है, जिसे उन्होंने स्वयं के श्रीमुख से व्यक्त किया है—'हे सुन्दरीवृन्द! तुम्हारे विशुद्ध, निर्मल, अनिन्द्य प्रेम का प्रतिदान देने की सामर्थ्य आज मैं खो बैठा हूँ। अतः आज से तुम लोगों का चिरऋणी हो गया हूँ। दुर्जर गेहशृंखला को तोड़कर तुम लोगों की यह दुर्वार प्रेमधारा समुद्रगामिनी तटिनी की तरह है। इस ऋण का परिशोध एकमात्र तुम्हारे सौम्य स्वभाव एवं सु-आचरित गुणों के द्वारा ही हो सकता है। मुझमें आज कुछ भी शक्ति नहीं है कि इस ऋण का

परिशोध कर सकूं ।'

किन्तु श्रीकृष्ण हैं लीला-पुरुषोत्तम। इसीलिए इस महाऋण को स्वीकृति निज श्रीमुख से देकर समस्त जगत् में व्रजांगनाओं के तद्गत-प्राण और प्रेम की महिमा-गाथा उन्होंने स्वयं उद्घोषित की है। सचमुच ही ऐसा साधूत्तम उदारचेता प्रेमास्पद कुलाधि एवं कदापि नहीं दिखायी पड़ता। लगता है इसी कारण परमज्ञानी भक्तराज उद्धवजी ने श्रीवृन्दावनविहारिणी व्रजांगनाओं के श्रीचरणकमलों में अपना विनीत प्रणाम निवेदित कर उनके श्रीचरणों की रेणु का जयगान किया है—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

—'नन्दबाबा के व्रज में रहनेवाली गोपांगनाओं की चरण-धूल को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ—उसे सिर पर चढ़ाता हूँ। अहा! इन गोपियों ने भगवान् कृष्ण की लीलाकथा के सम्बन्ध में जो कुछ गान किया है, वह तीनों लोकों को पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा।' 'मेरे लिए तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावन-धाम में कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि —जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ! अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन व्रजांगनाओं की चरणधूलि निरन्तर

सेवन करने के लिए मिलती रहेगी। इनकी चरण-रज में स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ। देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेद की आर्य-मर्यादा का परित्याग करके इन्होंने भगवान् की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरों की तो बात ही क्या—भगवद्वाणी उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ (उपनिषद्) भी अब तक भगवान् के परम प्रेममय स्वरूप को ढूँढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं।' (श्रीमद्भागवत, १०।४७।६३,६१)

प्राचीन एवं मध्य युग में, श्री शुकदेवजी को छोडकर, महर्षि शाण्डिल्य तथा देवर्षि नारदजी ने भी अपने 'भक्ति-सूत्र' में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के दिव्य प्रेम को 'सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (गीता, १८।६६) इन वाणियों में निर्दिष्ट पराभक्ति की पराकाष्ठा ही सूचित की है। महर्षि शाण्डिल्य ने अपने 'भक्तिसूत्र' के १३ वें और १४ वें सूत्रों में गोपीप्रेम को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित किया है। नारदीय भक्तिसूत्र के 'अस्ति एवम् एवम्, यथा व्रज-गोपिकानाम्, तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृति-अपवादः, तद्विहीनं जाराणाम् इव', इन २० वें से २३ वें सूत्रों में उस दिव्य प्रेम के महिमामय संगीत को पुनः देवर्षि ने अपनी वीणा में झंकृत किया है।

आधुनिक युग के दो अवतारपुरुष श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीरामकृष्ण परमहंस ने सर्वत्र इस प्रेम की महानता का कीर्तन किया है। इस युग के सर्वश्रेष्ठ धर्मप्रवक्ता

आचार्य स्वामी विवेकानन्द ने अपनी स्वाभाविक ओजस्विनी भाषा में इस महान् प्रेम का जयगान निम्न रूप से किया है—"अहो ! जब तक कोई सम्पूर्ण पवित्र एवं शुद्ध नहीं होता है, तब तक उसके लिए श्रीकृष्ण-जीवन की इस विस्मयकारी घटना को समझना अतिशय कठिन है। यह प्रेम इतना ईश्वरीय है कि जब तक सर्वस्व का त्याग नहीं किया जाता, तब तक इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह प्रेम कुछ भी प्रतिदान नहीं चाहता, ऐसा कि स्वर्ग को भी नहीं। इहलोक एवं परलोक की किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं करता !" हमारे मत में अवतारपुरुष, भगवान् एवं प्रत्यक्षदर्शी धर्मप्रवक्ता का वचन वेदवाणी की भाँति त्रिकाल-अबाधित सत्य है। इसके पश्चात् भी यदि कोई इस विषय में शंका का पोषण करता है, तब हम यही कहने के लिए बाध्य होंगे कि वह दुर्भागा ही है।

श्रीकृष्ण की मथुरा एवं द्वारिका की लीलाओं की परिधियाँ ब्रजलीला से भी विराट् एवं व्यापक हैं। इस संक्षिप्त प्रबन्ध में इनकी सूचियों को निर्देशित करना भी असम्भव है। यह लीला-पुरुषोत्तम का आविर्भाव-पर्व है। पूर्वापेक्षा आज अधिक रूप से अगणित कंस, जरासन्ध, शिशुपाल, दन्तवक्र आदि असुरों ने धरती माता को विपदापन्न कर दिया है। धर्महीन मनुष्य आज पशुओं से भी अधम जीवन यापन कर रहा है। सच कहा जाए तो समस्त धरती एवं मानवसमाज का भविष्य ही आज अन्धकारमय है। तब, आइए, हम आज उन महाभाविनी ब्रजांगनाओं के साथ सुर मिलाकर उच्च स्वर में पुकार करें—

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥१०।३१।९

—'प्रभो ! तुम्हारी लीला-कथा भी अमृतस्वरूप है। विरह से सताये हुए लोगों के लिए तो वह जीवन-सर्वस्व ही है। बड़े बड़े ज्ञानी-महात्माओं—भक्त कवियों ने उसका गान किया है, वह सारे पाप-ताप तो मिटाती ही है, साथ ही श्रवणमात्र से परम मंगल—परम कल्याण का दान भी करती है। वह परम सुन्दर, परम मधुर और बहुत विस्तृत भी है। जो तुम्हारी उस लीला-कथा का गान करते हैं, वास्तव में भूलोक में वे ही सबसे बड़े दाता हैं।' साथ साथ प्रार्थना करें, हे देव ! हे दयित ! हे जगबन्धु ! हे कंस-निषूदन ! हे वासुदेव ! आइए, कृपा कर एक बार और इस धराधाम पर अवतरित होइए एवं इस अत्याचारी जीर्ण सभ्यता को मिटाकर धरती में नवजीवन का उन्मेष कीजिए। देह-सर्वस्व सभ्यता को कंस-कारागाररूप निशा के अवसान के उपरान्त, ज्ञान एवं प्रेम के वसुदेव-देवकी-मिलन से उद्भूत कर्मयोगी पार्थसारथि के आविर्भाव से जगत् में पुनः अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का नवजन्म हो, यही प्रार्थना है।

●

"मुक्ति कब होगी ? जब 'मैं' चला जाएगा।"

—**श्रीरामकृष्ण**

ईश्वर का प्राकट्य

(गीताध्याय ४, श्लोक ४-६)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

अर्जुनः (अर्जुन) उवाच (बोला)—भवतः (आपका) जन्म (जन्म) अपरं (बाद में) विवस्वतः (सूर्य का) जन्म (जन्म) परं (पहले) एतत् (यह) कथं (कैसे) विजानीयां (जानूंगा) त्वम् (तुमने) आदौ (प्रारम्भ में) प्रोक्तवान् इति (यह बताया था)।

"अर्जुन बोला—आपका जन्म तो बहुत बाद का है, जबकि सूर्य का जन्म बहुत पहले का है। तब मैं यह कैसे मान लूं कि सृष्टि के प्रारम्भ में आपने सूर्य को यह योग बताया?"

भगवान् श्रीकृष्ण ने जब यह कहा कि वह योग सनातन है और सृष्टि के आदिकाल में मैंने इसका उपदेश सूर्य को दिया था, तो अर्जुन का चकित होना बहुत स्वाभाविक था। अर्जुन तो हमारी तरह सामान्य दृष्टि से ही श्रीकृष्ण को देखता है—उसको लगता है कि श्रीकृष्ण एक मनुष्य हैं और जैसे किसी किसी मनुष्य में विलक्षणता होती है, वैसे ही श्रीकृष्ण में भी कुछ अधिक विलक्षणताएँ हैं। वह यह कल्पना ही नहीं कर सकता था कि कृष्ण कभी ऐसी बात भी कहेंगे। उसने श्रीकृष्ण को अभी तक

गुरु-रूप से ही स्वीकार किया है, उनके प्रति भगवद्बुद्धि अभी उसकी नहीं है। अध्याय २ के श्लोक ७ में वह शिष्यत्व स्वीकार करते हुए श्रीकृष्ण से 'शिक्षा' की, उपदेश की याचना करता है—कहता है—'शिष्यस्तेऽहं शाधि'। भगवान् बीच बीच में वार्तालाप के प्रसंग में अपनी भगवत्ता प्रकट करने की चेष्टा तो करते हैं, पर अर्जुन उसे पकड़ नहीं पाता। पहली चेष्टा संकेत के रूप में भगवान् ने अध्याय ३ के श्लोक ३ में 'पुरा' शब्द कहकर की। वे बोले कि 'अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा की बात मेरे द्वारा पहले ही कही गयी है।' वहाँ वैसे देखा जाय तो 'पुरा' शब्द कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। 'पुरा' का अर्थ 'पहले', 'पूर्व में' ही होता है, पर यदि श्रीकृष्ण इतना ही कहते कि 'इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा की बात मेरे द्वारा कही गयी है,' तो भी काम बन जाता। उन्होंने अध्याय २ के श्लोक ३९ में जो दो निष्ठाओं की बात कही है, वह बिना 'पुरा' शब्द के व्यवहार के भी ध्वनित हो जाती। पर उन्होंने 'पुरा' शब्द का प्रयोग किया, इसलिए कि वे इस शब्द के द्वारा अपनी भगवत्ता अर्जुन के समक्ष प्रकट करना चाहते थे और यह ध्वनित करना चाहते थे कि 'पुराकाल' में यानी सृष्टि के प्रारम्भ में ही मैंने दो निष्ठाओं की बात कही है। पर अर्जुन भगवान् का सूक्ष्म संकेत पकड़ नहीं पाया। उसने तो यही सोचा कि अभी कुछ समय पूर्व ये जो दो निष्ठाओं की चर्चा मेरे समक्ष कर रहे थे, उसी की ओर संकेत किया है।

अपनी भगवत्ता का दूसरा संकेत श्रीकृष्ण अध्याय ३ के श्लोक २२ से २४ में देते हैं, जहाँ वे कहते हैं कि अर्जुन, देखो, मेरा कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी मैं सतत कर्म में लगा रहता हूँ, और यदि मैं कर्म करना बन्द कर दूँ, तो सारे लोक भ्रष्ट हो जायँ। परन्तु तब भी अर्जुन संकेत पकड़ नहीं पाता। वह यही सोचता है कि जैसे श्रीकृष्ण ने जनकादि ज्ञानियों का उदाहरण दिया, जो लोकसंग्रह के लिए कर्म करते थे, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी एक ज्ञानी व्यक्ति हैं, जो लोकसंग्रह के लिए सतत कर्म में लगे हुए हैं। और यदि ऐसे ज्ञानी लोग कर्म न करेंगे, तो दुनिया के लोग भी देखादेखी कर्म छोड़ देंगे, जिससे घोर तमोगुण सर्वत्र फैल जायगा और लोकों का नाश हो जायगा।

तब तीसरा संकेत भगवान् ने अध्याय ३ के श्लोक ३० से ३२ में दिया। वहाँ अर्जुन को सब कर्म उन्होंने स्वयं अपने को समर्पित करने के लिए कहा और यह भी चेतावनी दी कि जो उनमें श्रद्धा रखकर उनके मत के अनुसार चलते हैं, वे तो कर्मों के बन्धन से छूट जाते हैं, पर जो उनके प्रति दोषबुद्धि रखकर उनके मत का विरोध करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। पर यह सुनकर अर्जुन को ऐसा तो लगा कि श्रीकृष्ण यह कैसा अहंकारयुक्त वचन कह रहे हैं, किन्तु तब भी उसने उन्हें एक गुरु के रूप में ही देखा और सोचा कि जैसे गुरु अपने शिष्य को चेतावनी दिया करते हैं, उसी प्रकार ये भी मेरे मिस चेतावनी ही दे रहे हैं।

जब भगवान् ने देखा कि उनके तीनों संकेत वृथा ह

गये और उनका प्रिय सखा अर्जुन उनके संकेतों को न पकड़ सका, तब वे स्पष्ट रूप से अपनी भगवत्ता को प्रकट करने के लिए चौथे अध्याय के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि सृष्टि के आदिकाल में उन्होंने सूर्य को इस योग का उपदेश दिया था। अब तो भगवान् के वचनों में न तो कोई अस्पष्टता थी और न असन्दिग्धता। यदि अर्जुन में श्रीकृष्ण के प्रति गुरुवत् श्रद्धा न होती, तब तो उसे शंका हो जाती कि श्रीकृष्ण का दिमाग सही है तो? कहाँ सूर्य सृष्टि के प्रारम्भ में और कहाँ श्रीकृष्ण आज से कुछ वर्ष पूर्व देवकी के गर्भ से निकले हुए! वह श्रीकृष्ण की बातों को यदि 'प्रलाप' मान लेता, तो उसे कोई दोष न लगता। ऐसी बातें कोई स्वस्थबुद्धि व्यक्ति कैसे कह सकता है?—यह अर्जुन के मन की प्रतिक्रिया होती। पर अर्जुन की विशेषता यह है कि श्रीकृष्ण के प्रति उसकी अशंकनीय श्रद्धा है। वह दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में जो कहता है—'मां त्वां प्रपन्नम्'—'मुझ आपकी शरण आये हुए को' यह वह तहेदिल से कहता है। इसीलिए भले ही उसे श्रीकृष्ण का सूर्य को उपदेश देनेवाला कथन बड़ा अटपटा लगा, पर वह सोचने लगा कि श्रीकृष्ण तो कोई बेतुकी बात कहेंगे नहीं, मैं ही उनका अभिप्राय समझ नहीं पा रहा हूँ, जरा उन्हीं से पूछ लूँ कि उनके इस कथन का मर्म क्या है। इसीलिए वह उपर्युक्त प्रश्न पूछता है। शंकराचार्य यहाँ पर भाष्य करते हुए लिखते हैं कि अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछता है—'कथम् एतद् विजानीयाम् अविरुद्धार्थतया'—मैं आपके कथन को 'अविरुद्धार्थयुक्त' कैसे समझूँ?

'विरुद्धार्थयुक्त' का तात्पर्य होता है असंगत। अतः अर्जुन का प्रश्न है कि मैं आपके कथन को सुसंगत कैसे समझूं ?

यदि हम किसी का अटपटा कथन सुनते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया हम पर दो प्रकार से हो सकती है। एक तो यह कि हम उसे सत्य न मानें और व्यंग्य करते हुए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें, दूसरा यह कि हम उसकी बात को समझने के लिए प्रतिप्रश्न करें। यहाँ पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो कहा, वह व्यंग्यात्मक न था, अपितु उसका जिज्ञासा से भरा हुआ प्रतिप्रश्न था। प्रतिप्रश्न के पीछे सामान्यतः तीन प्रकार की वृत्तियाँ कार्य करती हैं—एक, उसके कथन को असत्य प्रमाणित करने की; दूसरे, व्यंग्य करके उसे नीचा दिखाने की; तीसरे, जिज्ञासा के द्वारा बात को समझने की। अर्जुन के प्रश्न के पीछे यह तीसरी, जिज्ञासा की वृत्ति ही कार्य कर रही थी, और इसीलिए श्रीकृष्ण ने असन्दिग्ध शब्दों में अपनी भगवत्ता अर्जुन के समक्ष प्रकट कर दी। अर्जुन-जैसे अधिकारी पुरुष ही भगवान् की ऐसी कृपा के पात्र होते हैं। उन्होंने तो इस अध्याय के तीसरे श्लोक में कह ही दिया है कि अर्जुन, तू मेरा भक्त भी है और सखा भी, और यह कहकर उन्होंने अर्जुन के अधिकार पर मुहर लगा दी है।

श्रीकृष्ण अपने स्वरूप का प्राकट्य करते हुए कहते हैं—

श्री भगवानुवाच--

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

श्रीभगवान् (श्री भगवान्) उवाच (बोले)—अर्जुन (हे अर्जुन) मे (मेरे) तव च (और तेरे) बहूनि (बहुत से) जन्मानि (जन्म) व्यतीतानि (बीत गये हैं) अहं (मैं) तानि (उन) सर्वाणि (सबको) वेद (जानता हूँ) परंतप (हे शत्रुतापन) त्वं (तू) न (नहीं) वेत्थ (जानता) ।

"श्री भगवान् बोले—अर्जुन, मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत गये है । उन सबको मैं तो जानता हूँ, पर हे परन्तप, तू नहीं जानता ।"

अजः (अजन्मा) सन् (होता हुआ) अपि (भी) अव्ययात्मा (अविनश्वरस्वरूप) भूतानाम् (प्राणियों का) ईश्वरः (नियमन करनेवाला ईश्वर) सन् (होता हुआ) अपि (भी) स्वां (अपनी) प्रकृतिम् (प्रकृति को) अधिष्ठाय (आश्रय करके) आत्ममायया (अपनी माया से) सम्भवामि (जन्म लेता हूँ) ।

"मैं अजन्मा, अविनाशी और सब प्राणियों का नियामक ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृति का आश्रय ले निज माया के द्वारा जन्म ग्रहण करता हूँ ।"

भगवान् श्रीकृष्ण अपने और अर्जुन के बहुत बार जन्म लेने की बात पहले भी कह चुके हैं । अध्याय २ के श्लोक १२ में वे बता चुके हैं कि पूर्व में कोई काल ऐसा न था, जब वे स्वयं नहीं थे या अर्जुन नहीं था या कि

राजा लोग नहीं थे। पर वहाँ सन्दर्भ भिन्न है। यहाँ पर अपनी ईश्वरता, भगवत्ता के प्रकाशन की दृष्टि से भगवान् पूर्व जन्मों का उल्लेख करते हैं। अर्जुन को अपने पूर्व जन्मों का स्मरण नहीं है, जबकि भगवान् को है। इसका कारण श्रीकृष्ण के द्वारा अगले श्लोक में स्पष्ट कर दिया जाता है।

कारण यह है कि भगवान् का जन्म सामान्य जीवों के जन्म की भाँति कर्मों के, प्रारब्ध के, फलस्वरूप नहीं होता। जीव कर्म परवश है। अर्जुन जीव है, वह अपने प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप आवागमन कर रहा है, पर भगवान् स्वतंत्र हैं, वे अपनी इच्छा से शरीर धारण करते हैं। अतः वे कर्म से बँधे नहीं हैं। यह तो वैसा ही है, जैसे एक अधिकारी और एक अपराधी जेल के भीतर आते-जाते हैं। अधिकारी अपनी मर्जी के अनुसार जेल के अन्दर जा सकता है और बाहर निकल सकता है, वह इसमें पूरी तरह स्वतंत्र है, जबकि अपराधी जेल के नियमों से बँधा है—जेल के भीतर जाने या बाहर निकलने में उसकी अपनी इच्छा का कोई महत्त्व नहीं। यह प्रारब्ध जीव के लिए जेल ही तो है, जिसकी सीमा से निकलना उसके बस की बात नहीं। आचार्य शंकर विवेच्य पाँचवें श्लोक पर अपने भाष्य में लिखते हैं कि श्रीकृष्ण अर्जुन को उसके अपने पूर्व जन्मों के सम्बन्ध में न जानने का कारण बताते हुए कहते हैं कि अर्जुन, 'धर्माधर्मादिप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात् त्वं न जानीषे'—पुण्य-पाप आदि के संस्कारों से तेरी ज्ञानशक्ति आच्छादित हो रही है, इसलिए तू नहीं

जानता। पर 'अहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद् अनावरणज्ञानशक्तिः इति वेद'—मैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाववाला हूँ, इस कारण मेरी ज्ञानशक्ति आवरण-रहित है, इसलिए मैं जानता हूँ। श्रीकृष्ण की ज्ञानशक्ति आवरणरहित क्यों है इसका कारण श्लोक ६ में बताया गया है।

जब भगवान् ने अर्जुन से कहा कि मैं अपने सब जन्मों की बात जानता हूँ, तो अर्जुन के मन में सन्देह उठा कि क्या भगवान् जातिस्मर हैं? 'जातिस्मर' उन्हें कहते हैं, जिन्हें अपने पूर्व जन्म की बात याद रहती है। ऐसी घटनाएँ हमें सुनने और देखने को मिलती हैं, जहाँ किसी बालक या बालिका द्वारा अपने एक या एकाधिक पूर्व जन्मों की बात बतायी जाती है। अब भले ही अभी तक ऐसी कोई घटना प्रकाश में नहीं आयी है कि कोई अपने बीसियों पूर्व जन्मों की बात बता रहा हो, तथापि अर्जुन को ऐसा लगा कि श्रीकृष्ण एक असाधारण प्रतिभा-वाले जातिस्मर होंगे, जिन्हें अपने पूर्व जन्मों का स्मरण है। तब भगवान् यह कहकर अर्जुन की शंका को दूर करते हैं कि अर्जुन, अपने पूर्व जन्मों का मेरा ज्ञान जातिस्मरता के कारण नहीं है, बल्कि इसलिए है कि मैं अपनी इच्छा-नुसार अपने को प्रकट करता हूँ, अतएव जिस अज्ञान के परदे के कारण तू इस शरीर से पूर्व की अपनी स्थिति को जानने में असमर्थ है, वह मेरे भीतर नहीं है।

यह अवतार का तत्त्व है, जो भक्ति-साहित्य की विश्व के लिए अनुपम देन है। ज्ञान की दृष्टि से भले ही

ईश्वर का मनुष्य के रूप में अवतरण सम्भव न दिखता हो, पर भक्ति की दृष्टि से इस अवतार-तत्त्व पर विशद विचार किया गया है। श्रीरामकृष्णदेव अवतार-तत्त्व को समझाते हुए कहा करते थे कि सभी लोग अवतार को देखकर अवतारत्व की धारणा नहीं कर पाते। वैसे नैमिषारण्य में तो सहस्र सहस्र ऋषि-मुनि थे। उन सभी ने श्रीरामचन्द्र को देखा था, पर उन्हें अवतार के रूप से केवल भरद्वाज आदि कुछ इने-गिने ऋषियों ने ही ग्रहण किया था। वे कहते, "... यह भी ऋषियों की तरह है। ऋषियों ने रामचन्द्र से कहा, 'हे रामचन्द्र, हम जानते हैं कि तुम दशरथ के लड़के हो। भरद्वाज ऋषि भले ही तुम्हारी अवतार-रूप से पूजा करें, पर हम लोग तो अखण्ड सच्चिदानन्द को चाहते हैं।' इस बात को सुनकर रामचन्द्र हँसकर चले गये। ऋषि लोग ज्ञानी थे, इस कारण वे अखण्ड सच्चिदानन्द को चाहते थे। भक्त लोग भक्ति का स्वाद लेने के लिए अवतार को चाहते हैं।... कुछ भक्त सोचते हैं—कैसा आश्चर्य है! वेद जिसे अखण्ड सच्चिदानन्द और मन-वाणी के अगोचर कहते हैं, वह हमारे सामने मनुष्य-रूप में कैसे आया है?" एकहार्ट नाम के एक जर्मन रहस्यवादी दार्शनिक हो गये हैं, जिन्होंने अवतारवाद के सन्दर्भ में बड़ी सटीक बात कही है। उनकी मान्यता है कि God becomes man so that man may become God—अर्थात्, ईश्वर मनुष्य बनता है, जिससे मनुष्य ईश्वर बन सके। उस निर्गुण-निराकार सर्वव्यापी चैतन्य तत्त्व की धारणा भला कितने लोग कर

पाते हैं ? निर्गुण-निराकार में व्यक्ति अपने चित्त को कैसे टिकाएगा ? यहाँ तक कि सगुण-निराकार में भी मन बैठ नहीं पाता। यदि हम कल्पना करें कि ईश्वर निराकार है, पर सगुण है--दयावान् है, करुणा का सागर है, तो इस दयालुता और कारुणिकता की धारणा हम किसी व्यक्ति को देखकर ही तो करेंगे ? इसका तात्पर्य यह कि गुण भी तभी बोधगम्य होते हैं, जब किसी व्यक्ति के माध्यम से प्रकट होते हैं, अन्यथा वे मात्र भाववाचक शब्द रह जाते हैं। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य जब ईश्वर की कल्पना करेगा, तो एक मनुष्य के रूप में ही। तभी तो सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य उस अचिन्त्य, सर्वनियामक और सर्वव्यापी शक्ति को विभिन्न देवी-देवताओं के माध्यम से ग्रहण करने की चेष्टा करता रहा है। वेदों में हम प्रकृति की शक्तियों का जो मानवीकरण देखते हैं, वह मनुष्य की इसी मनोवैज्ञानिकता का फल है। फिर, मनुष्य ने मनुष्येतर रूपों में—मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह रूपों में—जो ईश्वर के अवतारों की कल्पना की है, उसके पीछे सृष्टि का विकासवादी सिद्धान्त है।

प्रश्न उठता है कि तब क्या अवतार महज मनुष्य के मन की एक कल्पना है ? क्या उसमें कोई वास्तविकता नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि अवतार मात्र कल्पना नहीं है, वह केवल भाव का सत्य नहीं है, अपितु इतिहास का भी सत्य है। अब यह इतिहास का सत्य उस प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता, जैसे हम विज्ञान के किसी प्रयोग को प्रयोगशाला में सिद्ध करते हैं। तब प्रश्न उठ सकता

है कि फिर अवतार की पहचान क्या है ? एक ज्ञानसिद्ध महात्मा भी तो ऊँची आध्यात्मिक अवस्था में रहता है। तब एक पहुँचे हुए महात्मा और अवतार में अन्तर क्या है ? अनुभवी सन्तों ने तथा शास्त्रग्रन्थों ने अवतार के चार लक्षण माने हैं—

(१) उनका जन्म मैथुनी नहीं होता, अर्थात् जिस प्रकार जीव का जन्म माता-पिता के रज और वीर्य के संयोग से होता है, अवतार का वैसा नहीं होता;

(२) उन्हें अपने जीवन के प्रारम्भ से ही अपने दैवी स्वरूप का भान होता है, इसलिए बचपन से ही उन्हें माया का स्पर्श नहीं रहता;

(३) वे सामान्य ज्ञानसिद्ध महात्मा की तुलना में अतिशय आध्यात्मिक क्षमतासम्पन्न होते हैं। श्रीरामकृष्ण-देव की भाषा में—'सामान्य ज्ञानसिद्ध लकड़ी के एक टुकड़े के समान होता है, जो स्वयं तो नदी को पार कर लेता है, पर यदि कोई पक्षी उस पर बैठे, तो डूबने लगता है। अवतारी पुरुष एक विराट् लट्ठे के समान होता है, जो अपने साथ साथ सैकड़ों लोगों को बिठाकर पार ले जाता है। . . . जब अवतार आते हैं, तो सैकड़ों व्यक्ति उनका आश्रय लेकर तर जाते हैं। सिद्ध लोग बहुत कष्ट से स्वयं तर पाते हैं। . . . रेल का इंजन खुद जाता है और भारी भारी माल से लदी हुई गाड़ियों को भी खींच ले जाता है, अवतार भी उसी प्रकार हजारों मनुष्यों को ईश्वर के पास ले जाते हैं;'

(४) उनमें एक अपूर्व आकर्षणी शक्ति होती है, जैसी संसार में और कहीं पायी नहीं जाती।

जब हम अपने यहाँ माने गये अवतारी पुरुषों को इन चार लक्षणों की कसौटी पर कसते हैं, तो पाते हैं कि वे सही सही भगवान् के अवतार थे। श्रीराम का जन्म यज्ञोद्भूत चरु के माध्यम से हुआ। श्रीकृष्ण के जन्म की घोषणा आकाशवाणी ने कर रखी थी तथा देवकी-वसुदेव ने उन्हें व्रत और तपस्या के माध्यम से प्राप्त किया। बुद्ध की माता मायादेवी ने स्वप्न के माध्यम से उन्हें पाया। चैतन्यमहाप्रभु की जननी शचीमाता ने भी अलौकिक माध्यम से उनकी प्राप्ति की। हमारे अपने युग में ईश्वर के अवतार के रूप में श्रीरामकृष्ण आये। एक ओर उनके पिता क्षुदिराम ने गयाधाम में स्वप्न में देखा कि भगवान् गदाधर उनसे कह रहे हैं—'क्षुदिराम, मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ और तुम्हारी सेवा ग्रहण करने तुम्हारे पुत्र-रूप से अवतीर्ण होऊँगा,' तो दूसरी ओर कामारपुकुर में उनकी माता चन्द्रामणि देवी युगियों के शिवमन्दिर के सामने खड़ी हो उसी दिन और लगभग उसी समय क्या देखती हैं कि अचानक शिवलिंग तेजोमय हो उठा और वह तेजपुंज उनके पास आकर उनके उदर में समा गया और उन्हें ऐसा लगा मानो गर्भ ठहर गया हो! अब यदि इस पर कोई यह कहे कि हमारे यहाँ तो केवल दस या चौबीस अवतार माने हैं, ये श्रीरामकृष्ण कहाँ से नया अवतार आ गये, तो उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'श्रीमद्भागवत' में जहाँ पर भगवान् व्यास दस या चौबीस अवतारों की

बात करते हैं, वहीं पर यह घोषणा करना भी नहीं भूलते कि 'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः' (१।३।२६)—अर्थात्, भगवान् के अगणित अवतार होते हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि इन अवतारों को ऊपर कहे गये चार लक्षणों की कसौटी पर कसा जा सकता है। सामान्य ज्ञानसिद्ध महात्माओं से ये सर्वथा भिन्न होते हैं और जीवन के प्रारम्भ से ही उनकी दिव्यता प्रकट हो जाती है। इतिहास की दृष्टि से जितने प्रामाणिक सन्दर्भ श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में प्राप्त हैं, उतने और किसी अवतार के सम्बन्ध में नहीं। उनको देखकर ऐसा लगता है कि अवतार कितना निरीह अथच कितना शक्तिमान् होता है, कितना सरल तो साथ ही कितना बुद्धिमान् होता है, कितना कोमल फिर भी कितना कठोर होता है। अवतार में एक अपूर्व खींचने की शक्ति होती है। श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और चैतन्य की आकर्षणी शक्ति की बात हम पढ़ते हैं; उन सबमें तो पद, सत्ता, धन, बल, पाण्डित्य आदि का ऐश्वर्य था, पर श्रीरामकृष्णदेव तो निरक्षर भट्ट के समान ही थे, वे सब प्रकार के ऐश्वर्य से शून्य थे, तथापि उनकी आकर्षणी शक्ति विलक्षण थी। उसका वर्णन करते हुए ब्राह्मसमाज के विख्यात नेता प्रताप चन्द्र मजूमदार अपने 'परमहंस रामकृष्ण' नामक प्रसिद्ध लेख में लिखते हैं—"वह अद्भुत व्यक्ति जब भी और जहाँ भी जाता है, तो अपने चारों ओर एक दिव्य ज्योति बिखेरता जाता है। मेरा मन अभी भी उस ज्योति में तैर रहा है। जब भी मेरी उनसे भेंट होती है, वे मेरे

मन में एक ऐसा रहस्यपूर्ण और अवर्णनीय रस उड़ेल देते हैं, जिससे मन अभी भी मोहित है। मेरे और उनके बीच कोई समानता है कहाँ? कहाँ मैं सुसभ्य, आत्म-केन्द्रित, अर्धनास्तिक, यूरोपियन बना हुआ और तथाकथित शिक्षित युक्तिवादी, और कहाँ वे एक अपढ़, निर्धन, ग्रामीण, अर्ध-मूर्तिपूजक और परिचयहीन हिन्दू भक्त! मैं, जिसने डिजरायली और फासेट के भाषण सुने हैं, स्टैनली और मैक्समूलर को सुना है, समस्त यूरोपीय विद्वानों और धर्मनेताओं की वक्तृताएँ सुनी हैं, भला क्यों उनके उपदेश सुनने के लिए घण्टों बैठा रहता हूँ? मैं तो ईसामसीह का अनन्य शिष्य और भक्त हूँ, उदारचेता ईसाई-मिशनरियों और उपदेशकों का प्रशंसक और मित्र हूँ तथा युक्तिवादी ब्राह्मसमाज का निष्ठावान् अनुगामी और सेवक हूँ—भला मैं उनके वचनों को सुनकर मन्त्रमुग्ध क्यों हो जाता हूँ? और केवल मैं ही अकेला नहीं, बल्कि मेरे-जैसे दर्जनों व्यक्ति उनके पास ऐसे ही हो जाते हैं।"

तो, विवेच्य छठे श्लोक में भगवान् कृष्ण आत्मस्वरूप का प्रकटन करते हैं। वे 'अज' हैं। वह ब्रह्म तो अपने स्वरूप से अजन्मा ही है। जो सदैव विद्यमान है, उसका जन्म क्या? और जो सर्वव्यापी है, उसका नाश क्या? जन्म तो उसका होता है, जो पहले नहीं था और अब होता है। नाश उसका होता है, जो सीमित है। अब जो अजन्मा और अव्ययात्मा है, वह सनातन और सर्वव्यापी तत्त्व ही हो सकता है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि दूसरे अध्याय में भगवान् कृष्ण ने जीवात्मा को भी अज और अव्यय बतलाया है—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (२।२०), तब यदि वे भी अज और अव्यय हैं, तो उनमें और जीवात्मा में क्या कोई अन्तर नहीं है ? चरम ज्ञान की दृष्टि से तो नहीं है, पर व्यवहार की दृष्टि से है। ज्ञान की दृष्टि से जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप ही है और कृष्ण भी अपने स्वरूप से ब्रह्म ही हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से अन्तर यह है कि वे समस्त भूतों के ईश्वर हैं। जीव तो कर्म-वश शरीर का ग्रहण और परित्याग करता है, पर भगवान् किसी कर्म के वश में नहीं, बल्कि कर्म उनके वश में है। इसी को ध्वनित करने के लिए भगवान् कहते हैं—'भूता-नामीश्वरः'। ईश्वर वह है, जो ईशन करता है। 'ईशन' यानी शासन। ईश्वर यानी ईश्+वर, जो शासन करने में 'वर' यानी श्रेष्ठ है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूप से अज हैं, अव्यय हैं, प्राणियों के नियमनकर्ता ईश्वर हैं, फिर भी वे अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी माया की सहायता से शरीरधारी बनते हैं।

'प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय' के दो अर्थ किये जाते हैं। एक, अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर और दूसरा, अपनी प्रकृति को वश में करके। यहाँ पर भगवान् ने 'प्रकृति' और 'माया' इन दो शब्दों का व्यवहार किया। वे अवतार लेने के लिए अपनी प्रकृति का आश्रय लेते हैं और अपनी माया के सहारे प्रकट होते हैं। अब 'प्रकृति' शब्द का अर्थ तो समझ में आता है, जिसे आगे चलकर 'गीता' के सातवें

अध्याय के श्लोक ४ और ५ में परा और अपरा ऐसे दो भागों में बाँटा गया है। अपरा प्रकृति जड़ है, जिसके अन्तर्गत पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) तथा मन, बुद्धि और अहंकार आते हैं। परा प्रकृति जीवरूप अर्थात् चेतनरूप है। भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी इस प्रकृति का आश्रय लेकर या इसे अपने वश में करके 'सम्भवामि'—जन्म लेता हूँ। जीव प्रकृति के वश में होता है, पर भगवान् प्रकृति को अपने वश में रखते हैं। अतः जीव को तो प्रकृति के नियमों का पालन करना होता है, पर भगवान् अपनी इच्छा के अनुसार प्रकृति को चलाते हैं। श्रीरामकृष्णदेव से एक बार मथुरबाबू कह पड़े थे कि ईश्वर ने जब एक बार नियम-कानून बना दिया, तो उन्हें भी उन नियमों का पालन करते हुए चलना पड़ता है। इस पर श्रीरामकृष्ण ने प्रतिवाद किया था और कहा था कि जो कानून बनाता है, वह तोड़ भी सकता है। जिनके लिए कानून बनाये जायँ, वे भले ही उन्हें न तोड़ सकें, पर कानून बनानेवाला तो उन्हें तोड़ ही सकता है। और दूसरे ही दिन उन्होंने मथुरबाबू को लाल जवा की एक ही टहनी पर एकदम लाल और एकदम सफेद ऐसे दो खिले फूलों को अपनी बात की पुष्टि में दिखा भी दिया। नियम कहता है कि लाल जवा के वृक्ष में लाल रंग का ही फूल खिलेगा, सफेद नहीं, पर सृष्टिकर्ता यदि चाहें तो इसमें अपवाद कर सकते हैं—वे अपने बनाये नियम से बँधे नहीं हैं, यही सत्य श्रीरामकृष्ण ने उन दो रंगों के फूलों के माध्यम से ध्वनित किया।

प्रश्न उठता है कि जब भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी प्रकृति को वश में करके जन्म लेता हूँ, तो फिर से 'आत्ममायया' कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? 'माया' भी तो त्रिगुणात्मक है, अतः प्रकृति का ही पर्याय है। तो क्या यहाँ पुनरुक्ति है ? नहीं, पुनरुक्ति नहीं है, भगवान् की यह जो माया है, वह सबको मोहित करती है। पूछा जा सकता है कि सबको यदि वह माया मोहित करती है, तब जब वह भगवान् का ही आश्रय लेकर रहती है, तो भगवान् को मोहित क्यों नहीं करती ? इसका सुन्दर उत्तर श्रीरामकृष्ण देते हैं। साँप के मुँह में विष है। जब वह दूसरों को काटता है, तो उन पर उसके विष का प्रभाव पड़ता है, पर जब वह स्वयं अपने उसी मुँह से खाता है, तो उस पर विष का प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार ईश्वर की यह माया है। माया सबको मोहित करती है, पर भगवान् पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाती। तो, भगवान् अपने को प्रकट करने के लिए ऐसी माया की सहायता क्यों लेते हैं ? इसलिए कि जिससे लोग उनके असली स्वरूप को न पहचानें। जब साक्षात् वे मानवरूप धारण करके आ ही गये, तो क्यों चाहते हैं कि लाग उनके स्वरूप को न पहचानें ? इसलिए कि तब तो लीला ही समाप्त हो जायगी। माया को भगवान् इसलिए स्वीकार करते हैं, जिससे उनका स्वरूप सबके सामने खुल न पाए। हाँ, जो उनके अत्यन्त निकट के भक्त होते हैं, उनके लिए तो वे अपने माया के आवरण को दूर कर देते हैं, पर सर्वसामान्य के लिए वह आवरण बना रहता है,

जिससे खेल चले, लीला चले। श्रीरामकृष्ण अपनी ओर इशारा करके कहा करते—जब लोगों को यह पता चलने लगेगा कि यह कौन है, तब शरीर और नहीं रहेगा। और यही हुआ भी। जब उनके अवतारत्व की बात फैलने लगी, तो उन्होंने लीला का संवरण कर लिया।

तो, भगवान् अपनी प्रकृति को वश में करके अपनी मायाशक्ति की सहायता से प्रकट होते हैं। 'संभवामि' शब्द का तात्पर्य है जन्म लेना, प्रकट होना। 'अवतार' कहने से ध्वनित होता है कि कोई ऊपरवाला नीचे आता है, अवतरित होता है। पर यहाँ ऊपर आने या नीचे जाने से कोई तात्पर्य नहीं। तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो न दीखनेवाला सर्वव्यापी नियामक चैतन्य तत्त्व है, वह अपने आपको प्रकट कर लेता है। तो इस प्रकार अपने को प्रकट करने से क्या उसमें कोई न्यूनता आ गयी? नहीं, यह तो वैसे ही है, जैसे सर्वव्यापी विद्युत्-तरंग, जो दिखायी नहीं देती, किसी बल्ब का सहारा लेकर प्रकाश के रूप में दिखायी देती है। या, जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहते थे—सच्चिदानन्द मानो अखण्ड समुद्र है। शीत के प्रभाव से समुद्र का जल बर्फ बनकर जल पर ही तैरता रहता है, छोटे-बड़े अनेक आकार के बर्फ के टुकड़े समुद्र-जल में तैरते हैं। उसी प्रकार भक्तिरूप शीत के लगने से सच्चिदानन्द समुद्र में साकार मूर्तियों का दर्शन होता है। भक्त के लिए ब्रह्म साकार है, फिर ज्ञान-सूर्य के उदय होने पर बर्फ गलकर मात्र निराकार जल ही रह जाता है।

प्रश्न उठता है कि जब भगवान् अपनी माया का

सहारा लेकर इसलिए प्रकट होते हैं कि वह माया सबको मोहित करके रखे, तो आखिर उनके इस प्रकार प्रकट होने में हेतु क्या है ? वे क्यों और कब जन्म लेते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर अगले श्लोकों में दिया गया है।

●

श्रीरामकृष्ण की बोधकथा

किसी समय एक स्थान पर दो योगी भगवत्प्राप्ति के लिए साधना कर रहे थे। एक दिन देवर्षि नारद उस ओर से गुजरे। उन योगियों में से एक ने नारद से पूछा, "क्या आप स्वर्ग से आ रहे हैं ?" नारद बोले, हाँ, "हाँ।" योगी ने कहा, "अच्छा बताइए तो भला, भगवान् इस समय स्वर्ग में क्या कर रहे हैं ?" नारद बोले, "मैंने आते समय देखा कि भगवान् सुई के छेद में से ऊँट और हाथियों को पार करा रहे हैं।" सुनकर योगी ने कहा, "इसमें कोई अचरज नहीं। भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं !" किन्तु दूसरा योगी बोल उठा, "यह असम्भव है। तुम कभी स्वर्ग में नहीं गये !"

पहला योगी भक्त था। उसमें शिशु की तरह सरल विश्वास था। वह जानता था कि भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं; भगवान् का स्वरूप कोई नहीं जानता।

●

रसद्दार मथुर (३)

मूल बँगला लेखक—**नित्यरंजन चटर्जी**, कलकत्ता

अनुवादक—**श्याम सुन्दर चटर्जी**, कवर्धा (म० प्र०)

(गतांक से आगे)

इसी तरह निरन्तर गदाधर की साधना चलती है। न है आहार, न विश्राम, न पूजा का ही कोई रंग-ढंग। केवल रोना और रोना। हृदय विगलित करनेवाली माँ-माँ की पुकार।

"व्याकुल होकर माँ के लिए न रोने पर उनके दर्शन कैसे मिलेंगे ? लड़का पतंग लेने के लिए हठ करता है। उसे पैसा देना होगा। माँ किसी भी तरह पैसा नहीं देना चाहती। कहती है—नहीं, वे मना कर गये हैं। जब लड़का रोना प्रारम्भ कर देता है, किसी भी तरह नहीं मानता, तो माँ सन्दूक खोलकर पैसा निकाल देती है। रोकर माँ से न माँगने पर कभी भी उनके दर्शन न हो पाएँगे। 'ईश्वर हैं' कहकर बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। जैसे भी हो उनके पास जाना पड़ेगा। 'दर्शन दो', 'दर्शन दो' कहते हुए व्याकुल होकर रोना पड़ेगा। लाग मान-सम्मान, पुत्र, रुपये-पैसे आदि के लिए घड़ों आँसू निकाल सकते हैं, किन्तु ईश्वर के लिए आँसू की एक बूँद भी नहीं निकलती। कामिनी-कांचन के लिए लोग पागल होकर घूमते हैं। पर कहाँ, ईश्वर के लिए तो कोई पागल नहीं होता ? लोगों का कहने दो कि ईश्वर के लिए पागल हो गया है।"

मथुरामोहन के मुँह से सब कुछ सुनकर एक दिन रासमणि स्वयं दक्षिणेश्वर में उपस्थित हुईं। गदाधर से गाना सुनना चाहा। गदाधर ने भावविभोर हो गाना प्रारम्भ किया। किन्तु गायन पूरा नहीं हो सका। भावावेश में विभोर हो गदाधर ने रासमणि को एक तमाचा जड़ दिया।

"शर्म नहीं आती? मन्दिर में आकर भी विषय चिन्तन करती हो!" रासमणि अत्यधिक लज्जित हो उठीं,—"सच ही ता है, यहाँ बैठी बैठी क्या सब सोच रही थी।"

यह बात मथुरामोहन के कान में भी पहुँची। वे अप्रसन्न हुए। छोटे पुजारी का पागलपन दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। अब शीघ्र ही इसका निराकरण करना आवश्यक है।

पर समस्या का समाधान नहीं हुआ। गदाधर की जीत हुई। उन्हें भय किस बात का? उन्होंने तो माँ के अभय अंक का आश्रय लिया है!

एक दिन गदाधर ने भोग की पूड़ी को बिल्ली को खिला दिया। मन्दिर के कर्मचारियों ने दौड़ते हुए जाकर खजांची से शिकायत की।

"स्वयं आप अपनी आँखों से सब कुछ देख जाइए। इसी का नाम क्या पूजा है? भोग के नैवेद्य को उन्होंने बिल्ली को खिला दिया। माँ का मन्दिर उच्छिष्ट हो गया। पागल न हो तो कोई ऐसा कर सकता है?"

सब लोग अधीर हो उठे। खजांची दौड़कर आये।

गदाधर का अद्‌भुत आचरण उन्होंने देखा। मद्यप की भाँति लड़खड़ाते हुए गदाधर अपना आसन त्यागकर उठे हैं, माँ के चिबुक को उच्छिष्ट हाथ से पकड़कर मन ही मन कितना प्यार व्यक्त कर रहे हैं। कभी आकुल होकर क्रन्दन करते हैं और कभी भावविभोर हो गाना सुनाते हैं। गाते गाते माँ के हाथ का पकड़कर छोटे बालक की भाँति दोनों पैर उठाते हुए नृत्य भी करने लगते हैं।

खजांची खड़े खड़े सब देखते हैं। किन्तु प्रतिवाद करने का साहस नहीं जुटा पाते। मानो किसी अदृश्य मंत्रबल से उनकी वाक्-शक्ति लुप्त हो गयी है।

उन्होंने मथुरामोहन को सब कुछ लिखकर बत-लाया। इस तरह के पागल को किसी भी तरह पूजा के कार्य के लिए रखना उचित नहीं होगा। इस अवांछित व्यक्ति को विदा कीजिए अन्यथा सब कुछ रसातल में चला जाएगा। एक दिन अनर्थ हो जाएगा।

मथुरामोहन का उत्तर प्राप्त हुआ। — वे जैसा चाहें, वैसी पूजा करें। उन्हें कोई तंग न करे।

कर्मचारी लोग चुप हो गये। आपस में फुसफुसाने लगे।

—छोटे पुजारी में थोड़ी भी बुद्धि नहीं है। सेजो-बाबू की नजर में पड़कर कई लोग 'बन' गये। और इसने ढोंग करके दिनरात हरि, राम, काली की रट लगाकर व्यतीत कर दिया। किसी का कहना ही नहीं मानता है। पागल होने से ही तो कोई ऐसा करता है।

गदाधर की दिव्योन्मत्त अवस्था को वे कैसे समझेंगे ? विष्ठा का कीट विष्ठा के आश्रय में ही सन्तुष्ट रहता है। उसी में उसकी पुष्टि होती है, उसी में उसका आनन्द है। यदि वहाँ से अलग कर उसे चावल की हण्डी में रख दिया जाय, तो वह मर जाएगा। बद्धजीव के साथ भी तो बहुत कुछ ऐसा ही है। इस सांसारिक प्रपंच से हटाकर उसे अच्छी जगह पर रख देने से घुट-घुटकर मर जायगा। वह एक ही सीमित क्षेत्र में घूमता मरता है। दुःख मिलता है, विपत्तियाँ आती हैं, फिर भी उसे चैतन्य नहीं होता है। उसका जीवन तंग दायरे में सीमित है। इसी में उसकी व्यस्तता और इसी में उसकी भाग-दौड़ है। फिर एक दिन जीवन का सायंकाल, अन्तिम आह्वान आ जाता हैं।

साधारण लोगों की दृष्टि में गदाधर के पागलपन की मात्रा दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। वे पूजा में बैठकर विभोर हो जाते हैं। पूजा करना वहीं रह जाता है। पूजा का उपचार चारों ओर बिखरा पड़ा रहता है। जिन्हें सब कुछ समर्पित किया है, जिन पर पूर्णतया निर्भर हैं, उन्हें छोड़कर मन से सब कुछ मिट जाता है।

मथुरामोहन चिन्तित हो उठे। निश्चय ही उनको वायुरोग हुआ है। वैद्यराज गंगाप्रसाद को बुलाया गया। वैद्यराज ने गदाधर का अच्छी तरह से परीक्षण किया और विधान दिया--'रात्रि में पानी नहीं पीना है।'

गदाधर ने शिष्ट बालक की भाँति उनकी बातें सुनीं और विधान को मान लिया। गदाधर उन्हें धन्वन्तरि के

रूप में ही जानते हैं। विधान का पालन करने में किसी भी दिन त्रुटि नहीं हुई। किन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। मथुरामोहन चिन्तित हुए।

"शरीर इतना अत्याचार कैसे सहन करेगा? मन-मौजी होना छोड़कर तुम्हें नियमपूर्वक आहार, ओषधि, विश्राम लेना पड़ेगा। नियम के बाहर जाने पर अनिय-मितता का आघात तो सहना ही पड़ता है। माँ-माँ कहकर जिसे पुकारते हो, उसे भी तो इस नियम को मानना पड़ता है।"

गदाधर चौंक उठे। परिवर्तन करने का तो पूर्ण अधिकार उनको है। फिर यह कैसी बात करते हैं सेजो-बाबू? जो विश्वनियन्ता हैं, वे भी क्या नियम के बाहर नहीं हैं? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता—गदाधर उत्तेजना से अधीर हो उठे।

"प्रकृति की ओर आँख उठाकर देखो, सब कुछ उसी एक नियम से बँधा है। लाल जवा फूल के वृक्ष में लाल फूल ही फूलता है, उसमें सफेद रंग का फूल नहीं खिलता। इसी को नियम कहते हैं। विश्वप्रसविनी जो हैं, उनके लिए भी यही व्यवस्था है। व्यतिक्रम कहीं नहीं है।" —मथुरामोहन ने समझाया।

गदाधर निराश हो गये। सेजोबाबू की बातों से मानो उनका सब कुछ गड़बड़ा गया।

"माँ, सेजोबाबू की बात यदि सही है, तो मैं फिर किसी भी दिन तुझे 'माँ' कहकर नहीं पुकारूँगा। क्या निखिल विश्व की पालिका भी इस नियम के बन्धन

में बद्ध है ?"

असह्य मानसिक दाह में सारी रात बीतती है। इतने दिनों की साधना शायद अब व्यर्थ हो जाएगी।

रात्रि समाप्त होने चली। दिगन्त में अरुणिमा दिखायी देने लगी। गदाधर का मन क्लान्त एवं देह अवसन्न है। नहाने के घाट के समीप लाल जवा फूल का वृक्ष है। वर्ष भर उस वृक्ष में फूल खिलते हैं। गदाधर ने तो कई बार उन्हीं लाल जवा फूलों की अंजलि माँ के पादपद्म में अर्पित की है।

गदाधर हठात् चौंक उठे। यह क्या ! एक ही डाली में दो फूल फूटे हैं। एक गाढ़े लाल रंग का है तो दूसरा एकदम सफेद। सफेद फूल की पँखुड़ियों पर कहीं भी लाल रंग का कोई चिह्न तक नहीं है। गदाधर विह्वल-दृष्टि से फूलों को देखते रहते हैं। नहीं, यह तो दृष्टिभ्रम नहीं है। माँ ने स्पष्ट रूप से दिखा दिया, सब कुछ नियम से बँधा नहीं है।

गदाधर ने डाली सहित दोनों फूलों को तोड़ा और मथुरामोहन के समक्ष फेंककर बोले, "कहाँ गया रे तेरा नियम ?"

मथुरामोहन तो हतप्रभ रह गये। ऐसी अद्भुत् घटना उन्होंने जीवन में कभी नहीं देखी।

"मुझसे अपराध हुआ है, बाबा !"—उनके कण्ठ में व्यर्थता की अनुशोचना थी।

और एक दिन की बात है। गदाधर शिवमन्दिर में प्रवेश करके 'महिम्नः स्तोत्र' का पाठ करने लगे। महेश्वर

की महिमा गाते गाते भावविभोर हो उठे। अपनी सत्ता, जगत्-प्रपंच सब कुछ भूल गये।

"हे महादेव, तुम्हारा गुणगान कैसे करूँ ? कण्ठस्वर तो रुदन से अवरुद्ध हो रहा है !" उनका वस्त्र नयन-जल से भींग जाता है।

कर्मचारीगण दौड़कर आये। उन लोगों के लिए तो मजे की बात हो गयी। व्यंग्य और छींटेकशी का कोई अन्त नहीं रहा।

"अरे, छोटा भट्टाचार्य तो आज कुछ अधिक पगला गया है। देखना, कहीं महादेव पर ही न चढ़ बैठे।"

हँसते हुए सब लोटपोट होने लगे। पर जिनके उद्देश्य से इतनी बातें हो रही हैं, उनका मन तो ससीम की सीमा को पार कर लुप्त हो गया है। उनके मन के भाव को क्या सांसारिक लोग ग्रहण कर सकते हैं? वहाँ तो शुभ्रता मालिन्य से जकड़ी हुई है, प्रेम हिंसा और द्वेष से घिरा है। वहाँ तो प्रेम केवल बातों का ही जमा-खर्च है।

मथुरामोहन उस दिन मन्दिर में ही थे। कर्मचारियों की हलचल को देख वे भी मन्दिर के प्रांगण में आ गये। वेतनभोगियों का दल उन्हें ससम्मान रास्ता दे एक ओर हटकर खड़ा हो गया और कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देखने लगा।

"हाथ पकड़कर खींच लाऊँ छोटे पुजारी को ?" —एक ने प्रश्न किया।

इन लोगों की यह जुर्रत !—मथुरामोहन के संयम का बाँध टूट गया।

"जिसके धड़ के सिर पर और सिर है, वही छोटे पुजारी को छूने का साहस करे !"

कर्मचारी लोग भय से चुप हो गये। बड़ी आशा थी उन्हें कि अब कुछ तो होगा। पर सब चूर-चूर हो गयी। सिर नीचा कर सब खड़े रह गये।

गदाधर की चेतना लौट आयी।

"यह क्या ! मन्दिर के सब कर्मचारी लोग यहाँ क्यों खड़े हैं ? मैंने क्या कुछ अनुचित कर डाला है, सेजो-बाबू ?"

मथुरामोहन की आँखें छलाछला आयीं। मनुष्य इतना सरल भी हो सकता है !

उन्होंने गदाधर को झुककर प्रणाम किया। "नहीं बाबा, तुमने कोई अपराध नहीं किया है। तुम तो तन्मय होकर स्तवन कर रहे थे। कहीं तुम्हें कोई बाधा न पहुँचाए इसीलिए मैं यहाँ खड़ा था।"

मथुरामोहन इतना देखने-सुनने के पश्चात् भी सब कुछ स्वीकार कर लेने में असमर्थ रहे। सन्देह का बीज मन में रह ही गया। जाँच कर लेने की प्रवृत्ति पुनः जाग उठी। अंग्रेजी शिक्षा में शिक्षित हैं न वे—नवभाव से अनुप्राणित। अभिमान कहाँ जाएगा ?

शुष्क साधना से शायद गदाधर का शरीर टूट गया है। बहाना बनाकर एक दिन दो पतिताओं को उनके कक्ष में भेज दिया। मथुरामोहन ने यह भी बार बार

बतला दिया कि उन्हें गदाधर के मन को किसी भी तरह पिघलाना है, साधना के उच्च मार्ग से नीचे उतारना है। कार्य ठीक ढंग से सम्पन्न होने पर प्रचुर पुरस्कार मिलेगा।

महायोगी महेश्वर ध्यानमग्न हैं। गिरिजा को वे भूल गये हैं। शंकर का ध्यान भंग करने के लिए इन्द्र ने कन्दर्प को भेजा। कामदेव के बाण से महादेव का ध्यान भंग तो हुआ, किन्तु कामदेव को दण्ड भी कम नहीं मिला। महादेव के तृतीय नेत्र ने अग्नि उद्गीरित कर दी। मदन दग्ध हो गया।

पतिताएँ धन के लालच में, किसी भी तरीके से गदाधर की योगनिद्रा भंग करने का संकल्प लेकर, अपने रूप की डालियाँ सजाकर उनके कक्ष में आयीं, गदाधर तो भावावेश में विभोर हैं। अत्यन्त सहज दृष्टि से उनकी ओर देखते हैं।

"अहा, मेरी आनन्दमयी माँ ! तू इस वेश में क्यों आयी है ?" —कण्ठस्वर में व्याकुलता है।

गदाधर उनके पदतल पर लोट गये। "छिः छिः !" —वे हटकर खड़ी हो गयीं। आतंक से सिहर उठीं। सरल मातृ-सम्बोधन से उनमें मातृत्व उद्वेलित हो उठा। वे तो कहाँ उन्हें साधना के उच्च मार्ग से नीचे लाने के लिए आयी थीं, पर कहाँ वे स्वयं ऊपर उठ गयीं। उनका मन द्रवित हो गया। अपने अन्तर्मन की सारी भक्ति-श्रद्धा उन्होंने उन रक्ताभ चरणों पर उड़ेल दी।

"अरे ! हम लोग कहाँ आ गयीं ? देवता के साथ कपट ! नरक में भी हमें स्थान नहीं मिलेगा। ठाकुर, हम लोगों का अपराध क्षमा करो !" आकुल होकर वे क्रन्दन कर उठीं। नयन-नीर से उन लोगों ने अपराध का प्रक्षालन कर लिया।

मथुरामोहन इस पर भी हार नहीं माने। —"जाँच कर देखना होगा, तुम्हारी कैसी साधना है ?"

एक दिन गदाधर को अपने साथ लेकर मेछुआ-बाजार स्ट्रीट में उपस्थित हुए। पहले से ही सारी व्यवस्था कर ली गयी थी। सिखाना, पढ़ाना, समझाना सब कुछ हुआ था। कुछ भी बाकी नहीं रहा था।

"तुम्हें ये लोग देखने के इच्छुक हैं।"

वे गदाधर को एक सुसज्जित कक्ष में ले गये। खूब सज-धजकर वारविलासिनियों का एक दल आगे आया और उनका सादर स्वागत किया। उन्हें देख गदाधर का समग्र चैतन्य मातृभाव से उद्वेलित हो उठा। छोटे शिशु की भाँति माँ-माँ कहकर उन्होंने उनका आह्वान किया। 'माँ' के इस हृदयस्पर्शी आह्वान में वारनारियों को मानो मातृत्व का आस्वादन मिला। वे तो चली थीं योगी का योग भ्रष्ट करने, पर अब उनकी आत्मा उन्हें ही धिक्कारने लगी। अश्रु-जल से मन की कालिमा धुल गयी। गदाधर के चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगीं।

"ठाकुर, हम लोगों का अपराध न लें।"— आत्मविक्रय करने आकर उन्हें आत्मग्लानि मिली। "हम महापापिनी हैं। देवता, हम लोगों का अपराध क्षमा करना।"

अनुशोचना से उन लोगों का कण्ठ भर आया।

मथुरामोहन को उन लोगों ने दस बातें सुना दीं।

"ऐसे देवता को लेकर यह किस तरह का खेल है?" लज्जा से मथुरामोहन अधोमुख हो गये। एक भी शब्द उनके मुँह से नहीं निकला।

मथुरामोहन समझ गये थे कि माँ के मन्दिर में पुजारी का काम गदाधर से अब सम्भव नहीं है। उनका मन तो साधनमार्ग के उच्च स्तर पर है। इस अवस्था में शास्त्रीय पूजापाठ उनके लिए सम्भव नहीं है।

"आज से माँ की पूजा हृदय ही करेगा।" — भावावेश में गम्भीर एवं आदेशात्मक स्वर से गदाधर बोले। मथुरामोहन ने नतमस्तक हो उनकी आज्ञा मान ली।

गदाधर को पूजा के कार्य से छुटकारा मिला।

(क्रमशः)

*

"जब तक हवा न बहती हो, तभी तक लोग गरमी दूर करने के लिए पंखा झलते हैं, एक बार हवा बहने लगी कि पंखा नीचे रख देते हैं। साधना में भी जब तक ईश्वरीय सहायता न मिले, तब तक साधक को स्वयं मेहनत करनी पड़ती है, ईश्वर की कृपा हो जाने पर फिर मेहनत नहीं करनी पड़ती।"

—श्रीरामकृष्ण